यही
सच है

यही सच है

मधुकर गंगाधर

राजकमल प्रकाशन

इस उपन्यास में आदमी की कोई परिभाषा नहीं गढ़ी गई है; बल्कि कहा गया है कि अन्तहीन प्रक्रिया का कोई परिचय व परिभाषा नहीं। वह निन्दनीय या वन्दनीय नहीं है।

यह पुस्तक मूल रूप में हिन्दी में लिखी गई, जहाँ महा-कवि और पोथाकार मुखिया-सरपंच होते हैं। इस पंचायत में सुकुमार को खड़ा कर कोई सच नहीं कहला सकता, अगर डॉ० शारदाप्रसाद सिंह, श्री द्वारकाप्रसाद एवं श्री नेस्तुर्ख का वैचारिक समर्थन नहीं मिला होता।

—मधुकर गंगाधर

इस उपन्यास में आदमी की कोई परिभाषा नहीं गढ़ी गई है; बल्कि कहा गया है कि अन्तहीन प्रक्रिया का कोई परिचय व परिभाषा नहीं। वह निन्दनीय या वन्दनीय नहीं है।

यह पुस्तक मूल रूप में हिन्दी में लिखी गई, जहाँ मठा-कवि और पोथाकार मुखिया-सरपंच होते हैं। इन पंचायत में सुकुमार को खड़ा कर कोई सच नहीं कहला सकता, अगर डॉ० शारदाप्रसाद सिंह, श्री द्वारकाप्रसाद एवं श्री नेमचन्द्र का वैचारिक समर्थन नहीं मिला होता।

—मधुकर गंगाधर

एक

चम्पा मौसी आई थी।

शायद अगस्त था···शायद पन्द्रह तारीख थी···शायद पाँच बजे थे।

ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। अगस्त भी हो सकता है, सितम्बर भी; पन्द्रह तारीख हो सकती है, बाईस भी; पाँच बजे हो सकता है, छः भी।

चम्पा मौसी के साथ हमेशा निजी फ़ौज रहती है। कम-से-कम मेरे घर आने से यही साबित होता है। सह-अस्तित्व के नियम मानने वाली फ़ौज, अर्थात् टुनू, मुन्नी, इला'दी।

कमरे में रोशनी हो चुकी थी। मैं स्नान करके अभी-अभी बाथरूम से बाहर आया था। टी-टेबुल पर पैर रखकर मैं रेडियो का मीटर घुमा रहा था। ऊपर सीलिंग फ़ैन घरघरा रहा था। यह पंखा पुराना है और लोहे की चक्की घिसने-जैसी आवाज़ करता है। यह आवाज़ मुझे अच्छी लगती है। गर्मियों में, स्नान करने के बाद, कन्धे पर पाउडर छिड़ककर पंखे के नीचे बैठने और रेडियो बजाने में बहुत अच्छा लगता है।

ऐसे समय नींद की ख़ुमारी और जागरण की ताज़गी का मिला-जुला बोध होता है। शरीर को दरिया में फैंसाने के बाद

वालू-भरे किनारे पर लेटने का आनन्द मिलता है और मन में वेणु-वन की वजती वाँसुरी की अनुभूति होती है। यह मेरी व्यक्तिगत रुचि है।

भीगे वालों में पंखे की हवा गुदगुदी लगाती है। साबुन और पाउडर की खुशवू मिलकर ज़्यादा तेज़ स्वाद जगाने वाली हो जाती है। पंखे की घर्र-घर्र के नीचे, संयत, सधे और क्षीण स्वर में निकलने वाला रेडियो का गीत नशा डालता है। मैं आँखें वन्द कर लेता हूँ। अंग-अंग से आनन्द पीता हूँ।

ऐसे समय में एकान्त चाहता हूँ। एकान्त आदमी को पूर्णता देता है। मैं पूर्णता का कामी हूँ। पूर्ण हुए वग़ैर हम अपने एकान्त का उपभोग नहीं कर सकते। एकान्त अवसर है। इसके अभाव में आदमी जो है, वह नहीं होता है।

मैं जो हूँ, वह होना मुझे वहुत पसन्द है। व्याघात मुझे अपूर्णता का वोध देता है। इस वोध से कष्ट होता है।

अक्सर सन्ध्या समय, ख़ासकर गर्मी की सन्ध्या में, मेरे एकान्त भोग में कोई व्याघात नहीं पहुँचता है। परिवार के सदस्य व्याघात नहीं वनते।

और, मैं एक पल के लिए ही, आनन्दित होता हूँ। खुशवू की डोर पर मेरा मन झूला झूलता है। संगीत उसे वयार का झोंका देता है।

यह सव-कुछ एकान्त से होता है, जिसकी अनुभूति मुझे सुखद लगती है। कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जिन्हें हम जीते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें हम पीते हैं। पीने के कई ढंग हैं। हो-हल्ले के वीच शराव पी जाती है, शान्तिपूर्वक दूध। दूध अमृत न भी हो, शरीर

की भौतिक शर्त है।

लेकिन चम्पा मौसी के आने के कारण आनन्द छिन गया। उनकी फ़ौज का कोई एक सिपाही इस काम के लिए काफ़ी है।

टुनू सात वर्ष का है। माउण्ट कारमेल में पढ़ता है। मैं मौसेरा भाई हूँ, मगर अंकल बोलता है। लोगों ने मना किया। मैंने डाँटा है। मगर वह नहीं मानता। शायद उसे एक अंकल चाहिए, जो नहीं है। घर में फ़कत पापा है। अंकल एक शानदार शब्द है···बूट पहनकर मार्च करने वाले फ़ौजी कप्तान-जैसा शब्द। उसे यह शब्द अच्छा लगता है। अंकल बोलने पर उसकी आँखें चमक उठती हैं, चेहरे पर रोशनी हो जाती है। सप्ताह में एक बार वह मेरे घर आकर इस शानदार शब्द का कई बार उच्चारण करता है। वह तृप्त हो जाता है। फिर मेरी गोद में आता है। तरह-तरह के प्रश्न पूछता है। मेरी पीठ की तरफ़ आकर, 'टिंकल-टिंकल लिट्ल स्टार' गाता है।

मुन्नी ग्यारह साल की है। गोरी, पतली। फ्राक पहनती है। बोलती नहीं कुछ। हाँ-ना में जवाब देती है। मुझे देखकर आखें नीची कर लेती है। लेकिन जब भी मेरे घर आती है, दो बार ज़रूर छींकती है। नाक में डालने के लिए फुरेरी लिये आती है। छींकने के बाद ज़ोर से किलकारी भरती है, ताली पीटती और दूसरे कमरे की ओर भाग जाती है। मुन्नी सिड़ी है।

मैं मुन्नी से नफ़रत करता हूँ।

इलाहाबाद का मन मुझे अच्छा लगता है। तन किसी को भी अच्छा नहीं लग सकता। भैंस है। काली और मोटी। छोटा-सा गोल सर। मुट्ठी-भर झाड़ू नुमा बाल। जोर से हँसती।

पूरे मर्दों की हँसी। हर बात में हँसती है। हँसने के समय पीठ पर हाथ मारना या देह से लिपट जाना उसकी आदत है।

इला'दी मन से अपने को साहित्यिक मानती है। बी० ए० फ़ाइनल में है। हवाई और ठोस—दोनों तरह के मजाक पसन्द करती है। अपने ठोस मजाक के लिए एक प्रयागी साहित्यकार को चुना। प्रेम-पत्र लिखने लगी। वैसे, इष्ट-मित्रों के बीच इला-'दी ने प्रेम करने की कई कोशिशें कीं, मगर सब प्रेम एकतरफ़ा साबित हुआ। इस मामले में तन हमेशा बाधक रहा। प्रयागी साहित्यकार के लिए तन बाधक नहीं हुआ। तन पटना था और तस्वीर भेजने की गलती इला'दी क्यों करने लगी! बाद में मुझे बतलाया। फिर मुझे भी समेट लिया। हम लोग लम्बे-लम्बे पत्र लिखने लगे—झूठी कसमों के पत्र, इन्तजार के पत्र, साथ छूटने पर विष खा लेने की प्रतिज्ञा के पत्र।

इला'दी पिछले दो वर्षों से मुझे साहित्यिक मानती हैं। कॉलेज-पत्रिका में मेरी एक कहानी छपी थी। मुझसे साहित्य-चर्चा करती हैं। कभी-कभी साहित्यकारों के नाम पत्र लिखने को कहती हैं। गुप्तजी को लिखो कि रेशमीनगर में रहकर 'उर्वशी' के तर्ज पर कोई काव्य लिखें। नागार्जुन को लिखो कि लाल झंडे की कटाई-सिलाई पर ध्यान दें। बच्चन को लिखो कि नित्य प्रातःकाल एक वर्ष तक गोंद का शर्बत पियें, दिल जुटने पर कोई कविता लिखें···

राजनीति पर भी वे बोलती हैं। राजनीति पर उनका बोलना बड़ा संक्षिप्त होता है। प्रजातन्त्र से अगर कोई यह उम्मीद करे कि वह मुल्क का नक्शा तुरन्त बदल देगा और तमाम लोगों

के सामने नई दुनिया लाकर खड़ी करेगा, तो ग़लत है। हाँ, इतना जरूर है कि मुल्क अगर खुद तरक्की करना चाहेगा, तो वह रुकावट नहीं पैदा करेगा। वह मदद करेगा। वह एक अच्छा सिद्धान्त है। वह रामबाण नहीं है।

अक्सर राजनीति पर चर्चा करके उसकी ज़ुबान से उर्दू के शब्द ज़्यादा आने जगते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि नेता के टोन में भाषण देने लगती है।

प्रान्तीय राजनीति पर कभी नहीं बोलती। बिहार में कोई राजनीति है? तमाशा है। 'पिगमी पर्सनालिटीज़' के लोग हैं, सरकस का खाली समय भरते हैं।

बिहार के प्रति उनकी ऐसी धारणा पिछले वर्ष से हुई है। कालेज के जरिए इन्होंने एक मन्त्री के पास अनुदान की अर्ज़ी दी थी, मगर अर्ज़ी नाक़ामयाब हुई। तब से उनकी ऐसी धारणा हो गई है।

इला'दी लगातार पैंतालीस मिनट बोलती हैं। फिर चाय पीती हैं। चाय पीते समय, प्रत्येक घूँट के साथ, छोटे-छोटे और हँसी-भरे वाक्य बोलती हैं। चाय पीने के बाद फिर आने के अपने वायदे को कई बार दुहराकर चली जाती हैं।

इला'दी बोर हैं।

चम्पा मौसी इला'दी की माँ हैं—तन की माँ। पिछले पाँच साल से विधवा हैं। चर्बी की तरक्की हुई है। साज-सिंगार के बिना काला रंग खुरदरा हो गया है। माँ की बड़ी बहन हैं, फिर भी फूहड़ की तरह बातें करती हैं। औरतों की भाषा में मुंहफट कहा जाता है। एकमात्र तन नयनजोत है। तन के सिर पर ह

और गाल थपकाना आदत है। बातें बेपनाह करती हैं। इस वर्ष पटना में गर्मी बहुत है···जयप्रकाश कैलाश पर्वत पर तपस्या करने जा रहे हैं···टुनू हिन्दी से अच्छा अंग्रेज़ी में गाता है···

मौसी की पूरी फ़ौज अपनी कार्यवाही समाप्त कर चुकी थी। अकेला दुश्मन (मैं) आत्म-समर्पण कर चुका था। मैं रेडियो से पाँच गज़ अलग हटकर चक्कर लगाने लगा था। इला-'दी अपनी साप्ताहिक रुटीन के अनुसार मधु से उपन्यास ले चुकी थीं। माँ और मौसी तब भी चंचु-वार्ता में तल्लीन थीं।

यह चंचु-वार्ता असल में जयन्त का शब्द है। बगल में एक वकील साहब हैं। बारह-तेरह की एक लड़की है···कमला की हम-उम्र। दिन ढले दोनों अपनी-अपनी छतों पर आ जाती हैं। बीच में चार फीट की गली। रेलिंग पर झुककर कमला और वकील-पुत्री घंटों फुसफुसाती हैं। जयन्त ने एक दिन देखा, तो चंचु-वार्ता बोल गया। इस चंचु-वार्ता से कमला और माँ, दोनों बिगड़ती हैं, चंचु-वार्ता···क्या चिड़िया हैं?

मैंने इस शब्द का प्रयोग किया। किसी तरह गप्प समाप्त हो और जान बचे। माँ बिगड़ उठीं। तुम्हारा क्या लेती हूँ? तुम क्या कर रहे हो वहाँ? रेडियो बजाओ या पढ़ो-लिखो या घूमने जाओ। दुनिया-भर के लोग अभी बाहर घूमते हैं और आप यहाँ औरतों की गप्प सुनते हैं। घर-घुसका!

मौसी ने अपनी चचेरी बहन का साथ दिया। अजीब किस्म का लड़का है। चुप्पा। तुम्हारे अन्य लड़के-लड़कियाँ तो काफ़ी खुशमिज़ाज और घुमक्कड़ हैं। जिस तरह इसका रंग-रूप सबसे न्यारा है, स्वभाव भी सबसे भिन्न है। डिप्टी साहब खुद ठहाके-

वाज़ हैं। अन्नी, यह डिप्टी साहब का ही बेटा है ? मेरे सिर पर हाथ रखकर कहो तो···

हो···हो होपफ···फ्फ्···फी···ही···ही··· ।

दो

पाटलिपुत्र···अजीमाबाद···पटना। हज़ारों वर्षों से यहाँ राज-मार्ग हैं, जन-मार्ग हैं, गलियाँ हैं।

छोटे-छोटे मुहल्ले की गलियाँ जन-मार्ग से मिलती हैं, जन-मार्ग की अर्ध-विकसित सड़कें राज-मार्ग से मिलती हैं। जैसे सड़कों का यह सिलसिला भारतीय समाज का प्रतीक हो।

जो गली मेरे मुहल्ले में आती है, वह पत्थरों की ईंटों से बनी है। यह गली चार फीट चौड़ी है। पत्थर की ईंटें सिर उठाने लगी हैं। नुक्कड़ पर डॉक्टर संजय का घर है। फिर मेरा घर है, और घर हैं···और-और घर हैं।

इस गली में ठोकरें लगती हैं। पैरों में ठोकर लगती है; अनगढ़ पत्थर हैं। नाक में ठोकर लगती है; दोनों ओर की नालियों में दुर्गन्ध बहती है। मन में ठोकर लगती है, चलने-फिरने वाले फिकरे, बोल, सीटियों, धक्के और गालियों के उस्ताद हैं।

बीस वर्ष पहले यह मुहल्ला बसा। तीन-चार घर बाबुओं के बसे, फिर घासी-कहारों ने जनसंख्या बढ़ाई। पता नहीं [illegible] वहाँ क्या सोचकर बनाया गया ?

नुक्कड़ पर, दूसरी ओर, दूकान है। चाय-पान, बीड़ी-सिगरेट की दूकान। सौदा कम, लोग ज़्यादा रहते हैं। टीन की छाजन वाली इस दूकान में एक ओर चूल्हे पर चाय का पानी खौलता है, दूसरी ओर पुरानी बेंच और चिप्पी लगी कुर्सियों पर होनहार उस्तादों के मन।

मुझे इन होनहार उस्तादों से कभी पाला नहीं पड़ा। शायद मुझे बड़े लोगों में शुमार किया जाता है और ये डरते हैं, या शायद मुझे दया का पात्र समझा जाता है—सींकिया शरीर, आँखों पर चश्मा। मैं गली में आँखें नीची करके चलता हूँ। झुकी दूब-जैसी मेरी आँखों के ऊपर से उस्तादों के फिकरे-भरे गुब्बारे उड़ जाते हैं।

लेकिन मधु न तो उस तरह चलती, न चल सकती है। शायद उस्तादों के लिए मधु वह नहीं भी हो, जो मैं हूँ।

यद्यपि मधु मेरी बहन है।

हाँ, वह मेरी बहन है, बचपन से आज तक मैंने उसे बहन ही जाना है। वैसे, जन्म से पहले भी मधु मेरी बहन थी। यह मधु का कहना है। समाज में वह जन्म के बाद मेरी बहन मानी गई। मैंने उसे बहुत दिन बाद बहन माना।

हम लोग ननिहाल में थे। भादों के काले-काले बादल भंख चुके थे। नदी-नाले जवान थे। धनखेतों में धान के बिरवे किल-कारियाँ मारने लगे थे। नाश्ता करने के बाद हम दोनों घूमने निकले। सड़क पार की। थोड़ी-सी परती ज़मीन, फिर धनखेतों की शृंखला। दूर-दूर तक फैले हरे-हरे चौकोर टुकड़े। बीच-बीच में बबूल के श्यामल पेड़ छाते की तरह खड़े। क्वार की नई धूप

में नमक का तीखापन होता है, डूबती धूप में बासी भात का ठंडा आलस्य। हम ऊँची मेंड़ पर चल रहे थे।

मधु मेरे पीछे थी। मेरे पायजामे और मधु के सलवार में मेंड़ पर उगे चिरचिरी के काँटेदार फल लग रहे थे। हम बेखबर थे। खेतों में घूमने का पहला अवसर था। नागर-सभ्यता की माँद में पैदा होने वाले बच्चों को खेत की मुक्त हरियाली अजीब खुशियाँ दे रही थी।

मैं मौन था। सामने के टुकड़े में धान की रोपनी नहीं हुई थी। जल भरा था, वेल्जियम शीशे-जैसा। चारों किनारे कोका के फूल खिले थे—पीले किनारे वाले दूधिया फूल। मधु पानी में कूद पड़ी। कमर-बराबर पानी था। बीसियों फूल तोड़े। मैं मेंड़ पर बैठ गया। उछलने-कूदने से मधु की कमीज़ और सिर के बाल तक भीग गए।

मेरे सामने दूर-दूर तक हरियाली थी—धान के पौधे लहरा रहे थे। हल्की हवा पर कोका के फूल जब-तब काँप जाते थे। ध्यानमग्न होकर मैं सोच रहा था कि धान क्या है। एक किस्म का जंगली पौधा। अपने आदिम रूप में यह कैसा रहा होगा? सबसे पहले आदमी ने इसे कहाँ पाया होगा? कैसी हालत में पाया होगा? पाने पर उसकी क्या अनुभूति हुई होगी? इतनी देख-रेख, सेवा-परहेज के बाद आज धान इस रूप में हमें प्राप्त होता है, मगर आदिम रूप कैसा होगा? लोगों ने इसे कम-कम से अलग-अलग रोपना शुरू किया; रोपने के खास तरीके [illegible] और आज इस हालत में यह पहुँच गया कि संसार को इसके बिना काम चलाना मुश्किल है।

मधु यह सब नहीं सोच रही थी। तेजी से फूल तोड़ रही थी—जैसे आज कोई अभूतपूर्व चीज़ उसे मिल गई है।

वाएँ हाथ में ढेर-से फूल और दाएँ हाथ को हिलाती हुई वह पानी से बाहर आई। उसके चेहरे पर खुशियों की रौनक थी।

मधु आकर मेरे बगल में बैठ रही। गोद में फूलों का गुच्छा। हरी-हरी नीलम की कोमल डंठलों को बीचों-बीच फाड़कर मालाएँ बनाने लगी। मैं दूर-दूर तक फैले धनखेतों को देख रहा था, मधु गुनगुना रही थी।

—भैया ?

—हाँ।

—तुम मेरे भैया हो ?

—हाँ।

—जनम-जनम रहोगे ?

—हाँ।

—सात जनम।

उसने दो-तीन मालाएँ उठाकर मेरे गले में डाल दीं। गर्दन पर बर्फ़-जैसी ठंडक लगी। नाक में कोका-फूल की ढेर-सी गन्ध समा गई। मैंने आँखें बन्द कर लीं। मधु मेरी गोद में सिर रख-कर लेट गई। बाकी मालाएँ छितरा गईं। मधु सिसकने लगी।

—मधु ?

—ऊँ···

—रोती है ?

—तुम मुझे दुलार नहीं करते ?

—ग़लत बात।

—इस तरह सिर पर हाथ नहीं रखते ?

—रखूंगा ।

—किस्से नहीं सुनाते ?

—सुनाऊंगा ।

—मुझे बहुत-बहुत दुलार करोगे तो ?

—करूंगा ।

मैंने उसके गले में कई मालाएँ डाल दीं । उसकी भीगी आँखों के नीचे काँपते हुए होंठ हँसने लगे । आँखें बन्द करके वह मेरे पाँवों से लिपट गई···भै···या···।

मधु मेरी बहन है; एकान्त निष्ठा की बहन ।

और, उस मधु पर गली के छोकरों ने फिकरे कसे । मेरे लिए यह नई बात हुई । गली में हमारा किसी से लेना-देना नहीं, आमद-रफ़्त नहीं । बच्चे बीमार होते हैं, डॉक्टर संजय आते हैं । पूजा-त्यौहार में शिवसागरसिंह आते हैं । बाकी लोग 'छोटे' हैं । अदब करते या तटस्थ रहते हैं । सामने तरकारी वाली बुढ़िया रहती है । माँ से एक दिन झगड़ गई । 'छोटे' लोगों ने बुढ़िया का साथ दिया । तब से 'छोटे' लोगों की आँखें हम लोगों पर उठती हैं । हमें देखकर वे मुस्कराते हैं । आपस में कानाफूसी करते हैं । हम बचपन से छोटे लोगों की उपेक्षा के अभ्यस्त हैं । ऐसी बातों का खयाल नहीं किया जाता ।

इस कानाफूसी ने छोटे लोगों को एकता दी । एकता के ज़रिये इन लोगों की जमात पहले धीरे-धीरे, फिर ज़ोर-शोर से सही और अच्छी बातों में शरीक होने लगी ।

ए पीताम्बर, रिक्शा ले आ, इनको जाना

और आठ खिल्ली पान ?···आप चलिए, तुरन्त पहुँचा दिया जाता है।

लेकिन वे लोग कुछ अजीब हैं। पता नहीं, इन्हें कैसे वे बातें मालूम हुई ? पेट के बच्चे का वज़न बतलाने वाले होते हैं। मधु कमरे में बैठकर रोई थी और जयन्त को कह दिया गया था कि वह कभी हमारे दरवाज़े पर पैर नहीं रखे। बात खत्म। कोई तूफ़ान नहीं, कोई हाहाकार नहीं, किन्तु बन्द कमरे की ये बातें गली के छोकरों को हाथ लग ही गईं।

मधु को देखता हूँ तो कोका-फूल की याद आती है। वही ताज़गी, वही सुगन्ध, वही कोमलता। उसने कई बार गल्तियाँ की हैं···युवा मन की फिसलन-भरी गलतियाँ। किन्तु वर्जना की मेरी तर्जनी की लाज वह किसी भी कीमत पर रखती है। उसके टूटते व्यक्तित्व को माँ बनकर सँभालना पड़ता है। बैठकर किस्से-कहानियाँ सुनानी पड़ती हैं। साथ-साथ घुमाने ले जाना पड़ता है···।

हम पत्थर की गली पार कर चुके थे। जेब में हाथ डाला, रूमाल ग़ायब। दो घण्टे सिनेमा-हॉल में बैठना पड़ेगा, कल से नाक बह रही है। मधु से, नुक्कड़ पर खड़े रिक्शे पर बैठने को कहकर रूमाल के लिए वापस लौटा। रूमाल लेकर आ रहा था, तो नुक्कड़ वाली दूकान पर विराट् कहकहा सुना।

कहकहा थोड़ी देर के लिए रुका—बस एक हल्के विराम की तरह। फिर एक मोटी और भद्दी-सी आवाज़ आई—लो मैं आ गया। अब सुनाओ—मधु की बातें !

मधु की बातें ? मेरे पैर जहाँ-के-तहाँ रुक गए। चम्पक की

आवाज़ थी। यह व्यक्ति पिछले पाँच-सात वर्षों से यहाँ आया—पान की दूकान कर रहा है, पहले बगल वाले वकील के घर प्लेट धोने की नौकरी करता था। बड़ा विनयशील माना जाता है। दूकानदार के पंचशील लक्षणों में विनयशीलता सर्वश्रेष्ठ है। सो चम्पक मानता रहा है। उसके मुँह से ऐसी बातें सुनकर बड़ा दुःख हुआ। मैं कान पात कर सुनने लगा, यह भूल-सा गया कि नुक्कड़ पर मधु को छोड़ आया हूँ। लगा जैसे उन लोगों ने कुछ बातें कानाफूसी के ढंग पर कीं, किन्तु बातें बड़ी ही तीखी रही होंगी, क्योंकि बातें समाप्त होते ही सामूहिक अट्टहास हुआ।

आयासित अट्टहास आश्चर्य में डाल गया। दूकान का मुँह सामने है—तीन तरफ़ टीन है। मैं जहाँ रुका, उधर दूकान का मुँह नहीं था। कहकहे दबते हो चीखती, फटी-फटी, विष-बुझी आवाज़ें उभर आईं···

—मासूम कहते हो यार! इसकी मासूमियत ही ज़ुल्म है···

—इस छोकरी का क्या कसूर, यह तो इसका ख़ानदानी हक़ है···

—ख़ानदानी हक़···

—इसकी माँ कम थी···

—वह तो माला जपती है···

—माला तो बाप जपता है, माँ एकादशी करती है···

—माँ एकादशी करती है···

—सत्तर चूहे खाने के बाद···

—ब्याहकर आई थी, तब की बात और थी···

—बिन्नो फुआ से पूछो, सुकुमरवा के जनम की कथा

सुनायेगी···

—माँ-बेटी में कम्पटीशन है···

हि···हि···हिप्प···ही···ही···

खिक्ख···खिक्ख···खक्ख···खक्खा··· हा··· हा···

Geeta Bhawan Library & Reading Room
Adarsh Nagar, JAIPUR.

तीन

सुकुमरवा अर्थात् सुकुमार अर्थात् मैं।

यानी मेरे जन्म की एक कथा है और विन्नो फुआ जानती है।

विन्नो फुआ मेरे मकान के आगे रहती है। अपना मकान है। पता नहीं कब और कैसे उसने वह मकान बनवाया था। निचले तबके की औरतों की सरदार है। मर्द मर गया है। एक लड़का है। लगभग अट्ठारह-उन्नीस का। विन्नो फुआ की उम्र लगभग पचास है। पूरा नाम है, विनती या इनमा की माँ। माँ से साधारणतः एक सदय नारी का बोध होता है। इस औरत में वैसा कुछ नहीं है।

रंग काला है। खुरदरा और बेडौल चेहरा। जुओं-भरे बाल हमेशा बिना तेल के हैं और हवा पर तैरते रहते हैं। चेहरे पर हमेशा तनाव रहता है। छोटी-छोटी आँखों के इर्द-गिर्द रेखाओं की चूनर रहती है। आँखों के भीतर से काइयाँपन टपकता है। शरीर पर लाल रंग के बूटेदार कपड़े का ब्लाउज, जो अक्सर मैल से काला दिखाई पड़ता है और सादा या एकरंगा किनारे की मोटी

साड़ी होती है। कलाइयाँ, जिन पर उभरी नसें हैं, हमेशा तनी और मर्दों की कलाइयों से होड़ लेने को तैयार। बाएँ हाथ में अक्सर बीड़ी होती है, जिसमें बातें करते या काम करते कस लगाया करती है। अधिक बीड़ी पीने का उसे नाज़ है—कौन खर्च करता है अपने ऊपर! लोग जितना भात-रोटी पर खर्च करते हैं, बिन्नो फुआ उतने की बीड़ी फूंकती है।

'फुआ' शब्द कब और कैसे उसके साथ आ जुड़ा है, नहीं कहा जा सकता। मुहल्ले में इस तरह के विशेषण आसमान से टपका करते हैं। कभी टपक गए और ईश्वरीय सत्य की तरह अटल हो गए। आदि-अन्त का पता नहीं। शोध-कार्य से भी सम्भव नहीं। इसलिए बिन्नो फुआ से किसी ऐसी औरत का बोध, जिसमें 'फुआ' का थोड़ा भी अपनापन हो, सम्भव नहीं। अपनापन रखने से उसका पेट नहीं भर सकता। सब्ज़ी की दूकान करती है। मुहल्ले के ९० प्रतिशत उधार खाते हैं। एक-दो तारीख को चुकाते हैं। ऐसे में अपनापन रखने से काम नहीं चल सकता। सब्ज़ी तोलते समय उसके हाथ की पकड़ जितनी मजबूत होती है, ज़ुबान उससे भी ज़्यादा मज़बूत है। तो, उस मज़बूत ज़ुबान की औरत से माँ का पाला पड़ गया।

कसूर असल में सिद्धनाथ का था। सिद्धनाथ किसी मुफस्सिल इलाके का रहने वाला है। रोटी कमाने पटना आया है। मेरे घर के बगल में, संजयसिंह के बड़े मकान के बराबर वाले एक कमरे में रहता है। बनियाइन और मोज़े बनाता है। कपड़े सीने की मशीन-जैसी एक मोटी-सी मशीन है। लाल-पीले-उजले धागे लगाकर मशीन चलाता है। मशीन सधी [illegible]

घुर आवाज़ करती हुई चलती है और रुकने पर खट् जैसी आवाज़ करती है। जैसे तवले पर स्वर का क़ाट होता है। सिद्धनाथ सवेरे से बारह बजे तक और चार-पाँच बजे से आठ-नौ बजे रात तक मशीन चलाता है।

यह मशीन पहले बच्चों और बूढ़ों के लिए तमाशा थी। पुरानी पड़ गई, तो जवान और बूढ़ों की दृष्टि-जिज्ञासा समाप्त हो गई। बच्चे अभी भी लाल-पीला धागा और घुर-घुर की आवाज़ से मोहित होते हैं। किन्तु, सब बच्चे वहाँ नहीं जा सकते। छोटी जाति और गरीबों के बच्चों को दुत्कार दिया जाता है। पैसे वालों के बच्चे अभी भी, एक-आध, वहाँ जाते हैं। सिद्धनाथ ने मुहल्ले में कुछ थोड़े-से दोस्त बनाये हैं, जो गाहे-बगाहे उसके यहाँ जाते हैं और मशीन की दूसरी तरफ चौकी पर बैठते हैं और बीड़ी पीते हैं सिनेमा की, नगर की ख़ास घटनाओं तथा आस-पड़ोस के लड़के-लड़कियों की टीका-टिप्पणी करते हैं।

उस दिन सिद्धनाथ और बिन्नो फुआ का बेटा टुनमा बैठकर बातें कर रहे थे, जब मेरा छोटा भाई मिहिर वहाँ पहुँचा। सिद्धनाथ एवं उसके दोस्त की चर्चा सिनेमा, नगर, मुहल्ले को लाँघती हुई पास-पड़ोस तक आ गई थी।

मधु पर चर्चा प्रारम्भ हुई। जयन्त और मधु की कहानी, पता नहीं कैसे, इन लोगों के हाथ लग गई है। सिद्धनाथ इस पक्ष में था कि जयन्त और मधु ने निष्ठा के साथ एक-दूसरे को चाहा था और इस दौरान में जो कुछ हुआ, वह सम्भव, प्राकृत था। टुनमा ख़िलाफ था। अजी, प्रेम और मुहब्बत की ऐसी-तैसी!

मैं तो घर के सामने रहता हूँ। आँखों-देखा हाल है। जयन्त कहीं से भी आता था, तो एक पैकेट हाथ में। माँ-बाप का मुँह पैसों से बन्द किये था। सब रुपये का खेल था। पच्चीस रुपये फेंक दो, तो दो घण्टों के लिए यहाँ भी चली आए।

सिद्धनाथ चुप हो गया। धीरे-धीरे उठा। सूटकेस खोला, दस-दस के पाँच नोट निकाले और टुनमा के आगे फेंक दिए। बुलवा दो। सिर्फ़ एक घण्टे के लिए। दूनी रकम दे रहा हूँ।

टुनमा थोड़ी देर के लिए असंगत हो गया। क्या जवाब दे! लेकिन ज़्यादा देर तक उसकी अवस्था वैसी नहीं रही। उसने मिहिर पर दृष्टि डाली। मन का शैतान नाच उठा। उसने मिहिर को निकट बुलाया।

मिहिर मशीन से लगे धागे को दत्त-चित्त होकर देख रहा था। इन दोस्तों की बातों से बेखबर था। सात साल का लड़का, बड़ों की बातों पर क्या ध्यान दे! बुलाने पर वह निकट आया। टुनमा ने बिखरे नोटों की तरफ़ इशारा करते हुए कहा—देखो, कितने रुपये हैं! मधु दीदी को कहना, ले जायगी।

मिहिर ने एक नज़र नोटों पर फेंकी और चुपचाप चला आया। चला आया और मधु से कहा—मधु दीदी! इतने सारे नोट फैला रखे हैं सिद्धनाथ और टुनमा ने। टुनमा ने कहा है कि मधु दीदी को भेज देना, ले जायगी।

और, एक तूफ़ान खड़ा हो गया। वैसे मेरी माँ को हार्ट की बीमारी है। उत्तेजित होने से खतरा हो जाता है। मगर इज्जत का सवाल था। उन्होंने ज़िन्दगी में जितनी गन्दी गालियाँ सुनी थीं, उनका टुनमा पर प्रयोग होने लगा।

थोड़ी देर तक यह हमला एकतरफ़ा रहा। मगर टुनमा की माँ ने सुना और वह भी जवाबी हमले के लिए आ जुटी। मुहल्ले के औरत-मर्द आ जुटे। छोटे तबके की कई औरतें बिन्नो फुआ के साथ अनायास ही जुट गईं। मेरी माँ अकेली जूझती रही। मधु बरामदे पर खड़ी होकर माँ को समझाने की कोशिश कर रही थी। किन्तु इसी बीच मधु और जयन्त का प्रसंग खुले-आम सामने रखा जाने लगा। सुसुरमुँही छोकरी। ईह! कालेज में पढ़ती है! लाल-पीयर साड़ी पहनती है। जयन्तवा जैसा भेड़ा मिल गया था, तो फुटानी चलती थी। बेचारा गया। अब देखना है फुटानी। मगर इसको क्या है! दूसरा जयन्त आयेगा, तीसरा, चौथा·····

मधु भाग गई। बरामदे पर नहीं रह सकी। भीतर जाकर रोने लगी। प्रेम भी इतना गन्दा और घृणित और घातक रूप ले सकता है। काश वह पहले जान पाती!

बेटी की आँखों में आँसू देखकर माँ के कलेजे से ज्वालामुखी की लपटें फूट निकलीं। मेरी दूध-सी बेटी पर ऐसा लांछन! बिन्नो, भगवान् का चक्र हमेशा चलता रहता है और सत्य-झूठ की जाँच करता रहता है। तुम जल्दी ही निर्वंश हो जाओगी।

निर्वंश! यानी तुम्हारा एक-मात्र टुनमा भी मर जायगा। बीस वर्ष का टुनमा मर जायगा और कोई पानी देने वाला नहीं रह जायगा। बिन्नो को इतना गुस्सा आया कि ठठाकर हँस पड़ी। अरी पतिवरता! तुम्हारा शाप सावन-भादों की पुरवा हवा है। मेरे मुन्ने का सिर सहलाएगा। सच्ची बात सुनकर कैसी किटकिटा उठी। बेटी दूध की धोई है। जैसे अपने है। अधिक जुबान

चलाएगी तो पंचों की भरी सभा में मुकुमरवा के जनम की कथा बाँच दूंगी। ई सब धोखापट्टी डरायवर को देना···धीरुआ को झाँसा देना।

कई लोग हँस पड़े। कई लोग खिसक गए। मैं ज़्यादा नहीं सुन सका। खिड़की पर खड़ा, लोहे की सलाख पकड़े, जैसे मैं बर्फ़ की मूर्ति बन गया। निस्पन्द, निष्प्राण, अचल, चेतनाहीन, शून्य···

चार

शायद चौबीस घण्टे हुए।

मेरे लिए समय अब बन्द तालाब का जल हो गया-गति-हीन, निस्पन्द, निश्चल। मैं नहीं जानता कि सूरज के उगने से किस प्रकार रोशनी होती है और संसार की प्रत्येक वस्तु छाया का निर्माण करती है। यह छाया पहले घटती है, फिर बढ़ती है और अन्त में लुप्त हो जाती है। सूरज डूबने पर रात होती है और तारे चमकते हैं और वह भी समाप्त हो जाता है। मैं जैसे यह सब भूल गया हूँ। जैसे इसकी अनुभूति लुप्त हो गई है।

बचपन में बोतलों के सहारे मैं तरह-तरह के खेल किया करता था। पानी भरकर बोतल को उलटाते समय एक बार ऐसा हुआ कि कार्क खोलना भूल गया। बोतल में हवा का एक बगूला बन गया। मैं टेबुल पर बोतल रखकर उस बगूले को

देखने लगा। फिर खाने के लिए बुलाया गया और खाना खाकर स्कूल चला गया। दूसरे दिन बोतल पर नज़र पड़ी तो हवा का वह शून्य उसी प्रकार स्थिर-अचल था। लगता है, आज मेरी भी यही स्थिति हो गई है।

लगता है, मेरे लिए काल के पैर रुक गए हैं। इस कमरे के बीच जैसे पानी भरा है और मैं हवा के शून्य की एक जगह अटका हुआ हूँ। किसी अज्ञात की शरारत ने मुझे ऐसी जगह लाकर लटका दिया है कि मैं हिलने-डुलने में भी असमर्थ हो गया हूँ।

क्योंकि मैं चाहता हूँ कि कमरे से निकलकर पार्कों और मैदानों की खुली हवा में टहलूँ और नहीं टहल पाता हूँ। कल से जैसे किसी ने मेरे शरीर की सारी शक्ति छीन ली है। मैं पंगु, असमर्थ और लाचार बन गया हूँ। मैंने कमरे से बाहर फैले अनन्त-अनन्त दृश्यों की कई-कई बार कल्पना करनी चाही है, लेकिन नहीं कर पाया हूँ। इन दीवारों की सूनी उदासी से परे मैं कुछ भी नहीं देख सकता और लगता है, जीवन में इससे परे कभी कुछ देखा भी नहीं है, क्योंकि चाहकर भी मैं इससे परे की कल्पना नहीं कर पाता हूँ।

मैं चाहता हूँ कि बहुत-बहुत सोचूँ, मगर नहीं सोच पाता हूँ। अपने विषय में और माँ-बाप के विषय में और घर-परिवार के विषय में बहुत-बहुत सोचना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि अपने पिताजी के इतिहास को उसी प्रकार जान लूँ, जिस प्रकार अपने छोटे भाइयों के इतिहास को जानता हूँ। लेकिन यह सब सम्भव नहीं है। और जब भी सोचता हूँ कि यह जानना किस प्रकार सम्भव हो सकता है, तो दिमाग की तमाम शक्तियाँ लुप्त होने

लगती हैं। फिर मेरी यह हालत हो जाती है कि मैं यह भी नहीं सोच पाता कि कुछ देर पहले और अभी-अभी किस व्यक्ति या विषय पर सोच रहा था। मेरी यह निष्क्रियता यहाँ तक बढ़ जाती है कि मैं अपने माता-पिता की सूरत तक याद नहीं कर पाता हूँ।

मैं यह जो कह रहा हूँ कि अपने माता-पिता की सूरत तक याद नहीं कर पाता, यह भी गलत है। असल में मेरे दिमाग में अभी व्यक्ति या वस्तु का कोई बोध नहीं है। इस बोध के लिए चेतना के अटकाव की एक अवधि चाहिए। अवधि नहीं है। सितार के तारों से तभी सरगम निकल सकता है, जब एक सधे विराम के साथ 'स्ट्रोक' दिया जाय। अनायास, बेतुके ढंग से सारे तारों को छेड़ने पर आवाज़ होगी, मगर उस आवाज़ का अर्थ नहीं होगा। मेरे अस्तित्व की सारी चेतना एक ही बार वाचाल हो गई है, इसलिए जो ध्वनि है, वह हाहाकार है, बोधगम्य नहीं।

लगता है, मेरे दिमाग में भाप भर गई है, जिसमें गति है, आभास है, मगर कोई आकृति नहीं है। सिर्फ़ एक धुंधलापन, एक व्यामोह। मैं अपनी इस मानसिक स्थिति को अपने लिए अच्छा मानने लगता हूँ। यह नितान्त अच्छा है कि सोचने की शक्ति एकदम लुप्त हो जाय और मैं कुछ भी न सोच सकूं। यह कितना अच्छा हो कि मेरे मन पर कोई आकृति, कोई संज्ञा, कोई भाव कभी न उभरे। ऐसा होना कितना अच्छा हो सकता है!

किन्तु तभी लगता है कि यह सब झूठ है और मैं कोल्हू के बैल की तरह निरन्तर एक ही बात को सोच रहा हूँ। सोच रहा

हूँ कि मैं जिसे पिता कहता हूँ, वह मेरा पिता नहीं है।

मेरा पिता कौन है ?

यह एक छोटा-सा प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर भी जानता हूँ। कोई एक पुरुष मेरा पिता है। और यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि वह पुरुष कौन है। देश, जाति, आकृति और संज्ञा का क्या महत्त्व है ? बी० एस-सी० तक की शिक्षा ने मुझे यही बतलाया है। किसी आकृति या नाम-विशेष के पिता हो जाने से मेरे अतीत, वर्तमान या भविष्य के लिए कोई असाधारण बात सम्भव नहीं।

किन्तु, मैं जब भी अपने हाथों, पाँवों और शरीर को देखता हूँ और आत्म-बोध की स्थिति में आना चाहता हूँ, तो मुझे लगता है कि मैं एक ऐसी वस्तु हूँ, जिसका महत्त्व एक अजाने, असभ्य, अर्थहीन मज़ाक से अधिक कुछ भी नहीं। जिसे मैं पिता कहता हूँ, वह अगर मेरा पिता नहीं, तो उसके और मेरे बीच होने वाले ईमानदार व्यवहारों को माँ किस नज़र से देखती होगी? माँ की नज़रों में मैं निश्चित रूप से एक ऐसा हथियार हूँ जिसके ज़रिए, बिना प्रहार किये ही, वह अपने सबसे निकट के व्यक्ति पर आघात करती रहती है और आक्रोश झाड़ती है। ऐसा हो सकता है कि मैं माँ की एक ऐसी भूल होऊँ, जिससे मेरी उपस्थिति से उसे हर पल नाटकीय वेदना और पछतावे का सामना करना पड़ता हो। अगर मेरे मौजूद पिता को मेरे जन्म का सच्चा रहस्य मालूम होता और वंश-परम्परा के कट्टर पिताजी तब भी मेरे साथ वैसा ही व्यवहार करते, जैसा अभी करते हैं, तो शायद मुझे कष्ट नहीं होता, किन्तु पिताजी-जैसे जाति, धर्म और वंश के कट्टर उपासक से इस तरह की कल्पना नहीं की जा सकती।

मैं अपने पिता और माँ, दोनों के लिए ही वफ़ादार बेटा हूँ। मैंने दोनों की इज़्ज़त की है। दोनों की तरफ़ से मुझे प्यार भी मिला है। किन्तु लोगों की कही गई बातें अगर सत्य हैं, तो मेरी माँ कितनी रहस्यभरी और जादुई है कि इतना बड़ा काण्ड कर लेने के बाद भी ज़िन्दगी को उसी तरह इत्मीनान से चला रही है, जैसे कोई भी दूध-बोई माँ चलाया करती है। और पिताजी ? क्या वे सहनशील हैं ? चरम उदार हैं ? रहस्य से परिचित हैं और चुप हैं ? या वे बुद्धू हैं ? अँधेरे में हैं ? निरीह हैं ?

मैं इन बातों को नहीं जानना चाहता हूँ। इन बातों को जानने से क्या लाभ ? सचाई जान लेने पर ही क्या होगा ? सत्य अगर मेरे प्रतिकूल ही हो, तो क्या मैं अपने जन्म की स्थिति को बदल लूंगा ? मैं इन बातों को अब और नहीं सोचूंगा।

लेकिन सोचे बग़ैर मैं रह भी नहीं सकता हूँ। मेरे रक्त का संस्कार यह मानने को तैयार नहीं कि मैं अपने जन्मदाता को नहीं जानूं। जिसे मैं पिता कहता हूँ और जिस पर मेरी अटूट भक्ति है मैं उस व्यक्ति के लिए माँ की नज़रों में जीवित व्यंग्य हूँ। सत्य इस आजीवन सुलगती आग से त्राण दिला सकता है। सत्य को जान लेने पर मैं सत्य को उजागर करूँगा और ऐसी सामाजिक अवस्थाओं के लिए रास्ता ढूंढ़ सकूंगा, जिनमें मेरे-जैसे प्राणियों का जन्म होता है।

मैं असत्य नहीं हूँ, क्योंकि मनुष्य हूँ, जीवित इन्सान हूँ, सन्दिग्ध संज्ञा नहीं हूँ। किन्तु मेरी स्थिति सत्य और असत्य के बीच की है, सन्दिग्ध है। मैं सत्य को पाना चाहता हूँ।

मैं जानता हूँ कि जिस सत्य की मुझे चाह है, वह इतना

आग-भरा हो सकता है, जिसे धारण करना, झेलना असम्भव हो सकता है। किन्तु जल के आभास के पीछे दौड़कर अन्तिम साँस लेते मनुष्य के लिए क्या आग की लपटें कष्टों को दूर करने वाली नहीं हो जातीं ?

मैं सत्य को पाना चाहता हूँ। और सत्य, मरुभूमि में वर्षों पहले टपके हुए एक बूंद पानी की तरह खो गया है। खो गया, किन्तु उसकी स्थिति कहीं निश्चित रूप से है। मैं हूँ, इसलिए कोई-न-कोई सत्य मेरा अवश्य है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, उड़ती हुई धूल, उड़ते हुए बगूले, जलती हुई रेत और वर्षों पहले भटका हुआ एक बूंद पानी···

पाँच

मधु मुझे इस तरह क्यों देखती है ?

शायद वह बचपन से इसी तरह देखती रही हो। किन्तु वह अब बच्ची नहीं है। बचपन के अपनेपन, किशोरों के अपनेपन और प्रौढ़ों के अपनेपन में भेद होता है। इसलिए अपनेपन को अभिव्यक्त करने वाली दृष्टि में भी भेद होता है। औरतों में यह-दृष्टि सत्य और अधिक मांसल होता है। संवेदन-शीलता की भूमि पर पलने वाले इस सत्य की पहचान सचेतन व्यक्ति सहज ही कर सकता है।

अभी-अभी मैंने मधु की दृष्टि का खयाल किया है। उसकी

दृष्टि का सीधापन जैसे कई पहलू वाले काँच पर पड़ने वाली किरण है। कितने सारे अर्थ, कितने सारे भाव उसकी दृष्टि में थे!

काँच के टुकड़े पर बिखरती इन किरणों में मैंने रक्त-गन्धी नागिन की झाँकी देखी है। मुझे डसने को आकुल। हो सकता है, यह मेरा भ्रम हो।

रंगा हुआ पानी भी तरल होता है। पानी है तो तरल है। तरल नहीं है, यानी पानी नहीं है। तरलता धर्म है। जैसे नारी में काट खाने वाला व्यंग्य।

नहीं, मधु मेरी बहन है। बहन का सही अर्थ सहजीवी संवेदना है। उसके विषय में ऐसे विचार लाना अपराध है।

अपराध हो सकता है। मैं इसे अपराध मानूँ, यह अच्छा है। क्योंकि मैं जिस तरह मानसिक तटस्थता का सृजन करके अपने इर्द-गिर्द को जानना चाहता हूँ, उसमें यह असम्भव नहीं कि मैं मधु की दृष्टि की कोई भी व्याख्या कर दूँ—कोई भी व्याख्या; जो किसी भी अजाने, अपरिचित, अबोले पुरुष से सम्भव है। किन्तु अपनी यह तटस्थता मुझे काटती है, जब यह बोध होता है कि अभी-अभी मैं तटस्थ हुआ था। यानी एक ऐसे फूल को, जिसकी खुशबू मेरे मन-प्राण में जन्म-जन्मान्तर से बसी हुई है, मैंने कहा कि मैं नहीं जानता।

मधु मेरी बहन है और मैं सोचना नहीं चाहता कि उसकी आँखों में भी मेरे लिए व्यंग्य के कुछ वैसे ही भाव हो सकते हैं, जिन्हें मनोवेत्ताओं ने नारी-जाति की मूल और मौलिक प्रवृत्ति माना है।

कि नारी सब-कुछ समझती है। कि नारी कुछ नहीं समझती

है। नहीं, मधु वैसी कुछ नहीं है। वह निरीह है। वह मेरी वहन है।

वहन, सगी वहन! दूध की सुगन्धों-भरी अपार्थिव मूर्ति। यही सत्य होना चाहिए। यह सत्य होता तो मेरे मन में और-और विचारों का खयाल तक नहीं आता। मैं अपनी अँगुलियाँ उसकी तलहथी पर रखकर उसके चाम से अपने चाम की वनावट की तुलना क्यों करता? उस समय, जव उसकी दूध-सी तलहथी पर मेरी काली अँगुलियाँ रखी थीं, तो लगा था कि हमारे चामों की वुनावट में फ़र्क है हमारी रेखाओं के उभार और गहरेपन में भिन्नता है। हमारी रेखाएँ अपेक्षाकृत दूर-दूर लगती हैं। फिर मैंने उसके सिर के वाल देखे थे—काले और घुंघराले कड़े और मोटे। मुझे अपने हल्के रंगों के सीधे और पतले वालों का खयाल आया और मैंने अपने सिर पर हाथ फेरा। उस समय मेरी आँखें उसके वालों से फिसलकर नीचे आ गई थीं और मैं उसके जवड़ों और ठुड्डी को देख रहा था। मेरी तरह, उसके जवड़े ऊपर की ओर उभरने की वजाय नीचे की ओर ढलवाँ हैं।

मैं उसकी आँखों को ग़ौर से देखता हूँ। भारी पलकों के किनारे मोटी पपनियों की पाँत। कौए का रंग गहरा आकाशी है। पुतलियों में जैसे पानी भरा है। मैं उसकी आँखों में डूव जाना चाहता हूँ। उसकी एक-एक रेटीना को विलगकर परखना चाहता हूँ।

सहसा मधु की आँखें काँपती हैं और हँसने लगती हैं। आँखों की हँसी चेहरे पर उतर आती है।

—क्या देख रहे हो ?

—तुम्हें।

—जन्म से आज तक देखा, मगर पेट नहीं भरा ?

जन्म शब्द से मैं मधु के जन्म की कल्पना करना चाहता हूँ, मगर नहीं कर पाता हूँ। किस प्रकार, पिता के कन्धों के सहारे मुझे छोड़कर माँ अस्पताल चली गई थी और कई दिनों बाद तौलिये में लिपटी मधु को लिये वापस आई थी। माँ की गोद से बेदखल करने वाली मधु को नाली में फेंक आने के अनेक निवेदन मैंने माँ से किये थे। किन्तु कुछ ही दिन बाद मैं अपने रबर के गुड्डे को भूलकर मधु के साथ प्राण चिपका बैठा था। मैं यह सब सिलसिलेवार रूप में नहीं सोच पाता हूँ। जन्म शब्द को सुनकर मैं अपने जन्म के विषय में सोचने लगता हूँ। कर्ण की तरह पुरुषार्थ प्राप्त करने में लगा हुआ मैं, अपने जन्म के नाम पर गूंजते अट्टहास का अनुभव करता हूँ और आग की हहास मारती लपटें कलेजे से उठ-उठकर कण्ठ तक आने लगती हैं। कर्ण की स्थिति मुझसे ज्यादा अच्छी थी, क्योंकि वह हाँ-ना की द्विधा से बाहर तो था। और मैं जन्म का स्मरण करके ही कुहासे से घिर जाता हूँ।

मैं अपने बालक रूप की विस्तृत कल्पना करना चाहता हूँ। मगर यह मेरे लिए सम्भव नहीं है। मेरे तमाम भाई-बहनों के बचपन की कई-कई तस्वीरें हैं, मगर मेरे बचपन की एक भी तस्वीर नहीं है। मेरे एक मित्र की पत्नी है—अर्चना। वह अपने बचपन की कथा सुनाती है। ऐसी काली और कुरूप थी कि माँ-बाप भी गोद में लेने से हिचकते थे। मगर पाँच-छ[illegible] के बाद से

उसका रंग-रूप बदलने लगा। और आजकल वह महाश्वेता, साँचोंढली औरत देखने की चीज़ बन गई। हो सकता है, मेरे साथ भी ऐसा ही परिवर्तन हुआ हो। मगर प्रकृति की सम्भावित लीला को जानने का साधन मेरे पास नहीं है। मुझसे बड़े इस घर के दो प्राणी हैं—पिताजी और माँ। मुझे इनकी बातों पर विश्वास नहीं होगा। और, बचपन की कोई तस्वीर मेरे पास नहीं है।

तस्वीर न होने की बात सोचकर मैं इस समय और अधिक दुखी होता हूँ। तमाम भाई-बहनों की तस्वीरें हैं, सिर्फ़ मेरी नहीं। माँ-बाप की पहली सन्तान और बचपन की कोई तस्वीर नहीं। ऐसा क्यों हुआ? अजाना संयोग? ज्ञात उपेक्षा?

मेरे मौन से जैसे मधु घबरा जाती है। उसके होंठों की हँसी, जैसे चुपके-चुपके आई थी, ग़ायब हो जाती है। आँखें अभी भी मुस्कराती-सी हैं। मेरी आँखें इस तरह नहीं मुस्कराती हैं। मेरे दोस्तों का कहना है कि पहले मेरे होंठ हँसते हैं, फिर आँखें। मधु के साथ ऐसी बातें नहीं हैं। वह होंठों से पहले आँखों से हँसती है।

वह इसी तरह देखती है और बोलती है। किसी भी चीज़ को गम्भीरतापूर्वक और ग़ौर से देखने के समय उसकी आँखों की पलकें पूरी तरह तन जाती हैं और पलकों के बाल, जो मोटे और गहरे काले हैं, अधिक चढ़ाए धनुष की तरह झुक जाते हैं। उसकी आँखों के इर्द-गिर्द रेखाओं की चूनर नहीं जमा होती। वह जब देखती है तो सिर्फ़ एक कौतूहल, एक जिज्ञासा का सृजन होता है। मेरी तरह वह एक सीध में अविराम गति से एक शोधक की

दृष्टि नहीं रखती। उसकी पुतलियों का रंग मेरी तरह सूखा और भूरा नहीं कि उदासी का आलम पैदा हो जाय।

हँसने के मामले में वह मेरी तरह सतर्क नहीं है। शब्दों के मामले में पूरी तरह सतर्क है। कम बोलती है और तोलकर बोलती है। मेरी तरह ज़ोर-ज़ोर से बोलने की उसकी आदत नहीं है। मैं हँसी को शब्दों से अधिक कीमती और अर्थों-भरी मानता हूँ, इसलिए सोच-समझकर आवश्यकतानुसार हँसता हूँ। हँसी मानस का सबसे उदात्त संकेत है। बेवजह और ज़रूरत से ज़्यादा इसका उपयोग प्रकृति का अपव्यय और उपहास है। मधु के साथ ऐसी बात नहीं है। वह हँसती है—बस हँस देती है। जैसे कोई अर्थ नहीं। शब्दों के अर्थ जानती है, इसलिए काफ़ी कंजूसी से व्यवहार में लाती है।

मेरा मौन रहना उसे बुरी तरह अखरता है। जैसे वह नहीं चाहती कि मैं ज़रा भी गम्भीर होकर ऐसी बातें सोचूँ, जो मेरी प्रकृति के अनुकूल न हों।

—भैया!

—हाँ।

—क्या बात है?

—बात? क्या होगी?

—तुम इस तरह क्यों देख रहे हो? कुछ बोलते नहीं?

—बोलने की कोई बात हो, तो बोलूँ।

—इस तरह क्यों देख रहे हो?

—किस तरह?

—मुझे धोखा देना चाहते हो? तुम्हारी आँखों में ऐसी

करुणा, ऐसी उदासी, इतनी निराशा मैंने कभी नहीं देखी। यह अभूतपूर्व दृष्टि क्यों है ?

और, मैं ठठाकर हँस पड़ता हूँ, क्योंकि मैं शब्दों में उत्तर नहीं दे सकता। मेरा मानस कहता है कि इसे भुलावा देकर कतरा जाऊँ और इस संकेत को व्यक्त करने में शब्दों का व्यवहार ख़तरे से ख़ाली नहीं। मैं मानसिक अभिव्यंजना का सर्वाधिक तेज़ हथियार काम में लाता हूँ—तीव्र स्वर की खोखली हँसी। और, भला क्या उत्तर हो सकता है ? अभूतपूर्व दृष्टि···?

लगता है इससे पहले मैंने 'अभूतपूर्व' शब्द कभी नहीं सुना। शब्दकोशगत अर्थ जानता हूँ। किन्तु क्या मात्र उतना ही अर्थ इस शब्द का है ? आज कुछ ऐसा भी अर्थ मुझे मालूम पड़ रहा है, जिसे मैंने शब्दकोश में नहीं पाया था। मैं जिसे नहीं जानता, फिर भी वह है। वह है, क्योंकि मेरी अनुभूति को वह छू रहा है।

मेरी हँसी मधु को बहुत उदास बना देती है। उसने मुझे इस तरह हँसते कभी नहीं देखा। कुछ देर तक मुझे एकटक देखती है। उसके होंठ हिलने लगते हैं। कुछ देर तक निरर्थक हिलते हैं। फिर सार्थक होते हैं।

—मैं ज्यों-ज्यों बड़ी होती जाती हूँ, बहुत-सी अनजानी चीज़ों को जानती जाती हूँ, लेकिन तुम अधिक अनजाने बनते जा रहे हो। दिन-ब-दिन लगता है, तुम मुझसे अपरिचित होते जा रहे हो।

मैं फिर हँसता हूँ। उसी रफ़्तार में। मधु फ़िलासफ़ी बोलती है। बड़ा अच्छा लगता है। गम्भीर-गम्भीर बातें। क्या वह ख़ुद

समझ रही है कि क्या बोल रही है ? परिचित और अपरिचित, जाना हुआ और अजाना !! आदमी भी ऐसा-ऐसा दावा कर बैठता है ? एक आदमी दूसरे को जानने की बातें करता है और मुझे हँसी आ जाती है। मधु मुझे परिचित समझती रही है और अब मैं अपरिचित होता जा रहा हूँ। काश ! यह जान पाती कि सुकुमार, सुकुमार को कितना जानता है।

लेकिन मधु इन सारी बातों को सोचने के लिए उस कमरे में अधिक देर नहीं रुकती है। वह उठकर चली जाती है। मेरे अपरिचित ठहाकों से जैसे उसे चोट लगती है। एक अविश्लेपित दुःख और अपरिचित गुस्से में उठकर वह कमरे से बाहर चली जाती है।

मैं उसको जाते हुए देखता हूँ। उसके पाँवों की चाल बाईं ओर झुककर होती। मेरी तरफ़ नहीं। मेरे दोस्तों का कहना है और मैं भी महसूस करता हूँ कि मैं तैरने की हल्की चाल में चला करता हूँ। मधु के शरीर का दबाव बाईं ओर होता है। जब वह चलती है, तो लगता है कि वह बाईं ओर मुड़ेगी···

मधु चली गई, यह कोई बड़ी बात नहीं हुई। वह उदास और रहस्यपूर्ण मानसिक स्थिति में गई। उसके ललाट पर रेखाएँ गहरी हो रही थीं, गोल चेहरा कुछ सिकुड़ा-सिकुड़ा-सा लगता था। उसके सोचने की यह स्थिति है। कुछ लोगों का चेहरा सोचने के समय फैलकर ढीला हो जाता है और शिराएँ मुक्त-सी रहती हैं। मधु इसके प्रतिकूल है।

रहस्य-भेद उसे हमेशा बुरा लगता है। कोई हिसाब हल करती है और अधिक देर तक उत्तर न मिलने पर [illegible]हिसाब

करना छोड़ देती है। मैं कहीं बाहर से आता हूँ और चेहरे का रंग अगर कुछ भी असाधारण हुआ कि लगी प्रश्न करने और मेरे न बतलाने पर वह कुछ देर शान्त रहती है उसी तरह शान्त रहकर मुझे घूरती है और अचानक उठकर चली जाती है। मैं उसके स्वभाव या चाल या चेहरे या अन्य किसी बात के विषय में सोचता हूँ।

इसलिए मधु का चला जाना कोई बड़ी बात नहीं होती।

किन्तु उसके चले जाने के बाद कमरा खाली हो जाता है। चौकी, कुर्सियाँ, अलमारी, रेडियो···सारे सामान मेरे परिचित हैं। सिर्फ़ अपरिचित मैं हूँ।

मैं अपरिचित हूँ।

और, लगता है कि मेरी आत्मा मेरे शरीर से बाहर निकल आई है और मेरे शरीर को ग़ौर से देख रही है तथा बगल में खड़ी मधु से पूछ रही है—यह कौन है ?

मधु चुपचाप बाहर चली जाती है।

हवा में कुछ शब्द चक्कर काटते हैं—यह कौन है ? अर्थात् सुकुमार कौन है, अर्थात् मैं कौन हूँ ? मधु नहीं जानती, मैं नहीं जानता।

यह कितनी बड़ी ट्रेजडी है कि मैं नहीं जानता कि मैं कौन हूँ। मैंने मिट्टी को जाना है, पानी को जाना है, हवा को जाना है। बी० एस-सी० तक पढ़कर मैंने बहुत-से सत्यों को जाना है। सिर्फ़ अपने को ही नहीं जानता।

मेरे मन में पहले इस तरह अजाने को जानने की जिज्ञासा तीव्र नहीं थी। साइन्स कॉलेज में नया-नया गया था। पानी की

बनावट के लिए एच-टू-ओ फ़ार्मूला सीखा था। प्रैक्टिकल में गया। नलियाँ, शीशे की सुराहियाँ, जार, बर्नर···और सामने खड़े प्रो० मिश्रा। देखते-ही-देखते हमने जाना कि सत्य किस प्रकार स्थूल होता है; किस तरह सूक्ष्म होकर हवाओं में व्याप्त हो जाता है।

गहराई में जाने का अभ्यास होता गया। जैसे हम कल्पित जासूसी उपन्यासों में पढ़ते हैं। रहस्य-भेद।

एच-टू-ओ, हवा, मिट्टी, आग, पृथ्वी, ब्रह्माण्ड, शून्य।

एटम और एनर्जी।

ऊर्जा और शक्ति।

अजानी चीजों को जानना कितना मधुर, कितना उदात्त होता है। जैसे हम अपने-आप हल्के हो जाते हैं, कुछ ऊपर उठ जाते हैं। जानने की यही प्रक्रिया शायद ऋषियों की ब्रह्म-प्राप्ति थी।

मेरा मन भारी हो जाता है। कुर्सी पर बैठ जाता हूँ। इस खाली कमरे में मेरी आत्मा शरीर से अलग हटकर चक्कर काटती है और प्रत्येक चक्कर के अन्त में मेरे शरीर के निकट आती है और ग़ौर से देखती है तथा पुनः चक्कर काटने आगे बढ़ जाती है।

कमरे में कोई ध्वनि नहीं; गति नहीं, किन्तु भटकी हुई अनुभूति मुझे बार-बार आकर छूती है—जानते हो? ओ सुकुमार! क्या तुम सुकुमार को जानते हो?

छः

शायद एक सम्भावित अनुभूति से घिरा बहुत देर तक मैं शून्य में अटका रहता। क्योंकि जिस समय मधु मेरे कमरे से बाहर गई थी, माँ आँगन वाले रसोईघर में थी और पिताजी घूमने गये थे और शेष भाई-बहन या तो बाहर चक्कर लगाने गये थे या छत पर खेल रहे थे। लेकिन मेरा शून्य बहुत अधिक देर तक मेरा नहीं रह पाया। सत्येन्द्र आ गया।

बन्द किये हुए दरवाज़े पर धक्का देते हुए वह मस्ती के साथ भीतर आ गया। वह हमेशा मस्ती से चलता-फिरता है। मेरी तरह सोचकर और नापकर कदम रखना उसने कभी नहीं सीखा। दोहरा शरीर है और फूले हुए गाल हैं। एक ओर कंघी किये हुए बाल उसकी दाईं आँख पर फिसल-फिसल जाते हैं, जिन्हें झटके के साथ पीछे की ओर फेंकता हुआ वह मस्ती के साथ चला करता है।

कमरे में जिस मस्ती के साथ वह घुसा था, मुझे देखते ही थोड़ा सकुचा गया। मुझसे छोटी मधु है, और मधु से छोटा वह है। छोटे होने का लिहाज़ करता है। किन्तु यह लिहाज़ उसके चौदह-वर्षीय स्वभाव को नियंत्रित नहीं कर पाता। कमरे में घुसकर वह एक पल के लिए ठिठक गया, लेकिन वह ठिठकन उसकी गति के लिए सिर्फ़ एक झटका-मात्र था। उसके हाथ में एक फूल था—गुलाब का फूल। मगर फूल को जिस अन्दाज़ से पकड़े था, गोया फूल नहीं, कोई अनोखा जन्तु पकड़ लाया हो—बिच्छू या छिपकली या चूहा। फूल के साथ मेरी ओर बढ़ा, किन्तु मैं जिस

कदर शून्य की स्थिति में झूलता हुआ बैठा था कि मुझसे कुछ पूछने या कहने की हिम्मत उसे नहीं हुई। वह मेरी ओर दो कदम बढ़कर एक पल रुका और रेडियो वाले टेबुल की ओर गया। रेडियो के निकट उसने फूल को रखा। मेरी ओर देखा।

—दीदी कहाँ है ?

उसने अनायास ढंग से पूछा। उसे कुछ पूछना था, पूछ दिया। वह जानता था, उत्तर नहीं मिलेगा। मैं उत्तर दे भी नहीं सकता था। मैंने उसके प्रश्न को सुना, अर्थ भी समझा। लेकिन मुझे ज़रा भी नहीं लगा कि यह प्रश्न मुझसे पूछा गया है। मैं उसकी गति को देख रहा था। जैसे मेरे कमरे में एक ऐसा लड़का आ गया है, जिसे मैंने ज़िन्दगी में कभी नहीं देखा है, जिसकी भाषा मैं नहीं समझ पाता हूँ। उसकी गति और भंगिमा के सहारे उसे समझना चाहता हूँ।

फूल के साथ, निश्चित रूप से उसके मन में कोई खण्ड-कथा, अभिनव व्यंजना है, जभी तो फूल को वह अजीब ढंग से उठाते आया है और आने के साथ दीदी अर्थात् मधु को खोज रहा है। मैं अगर दीर्घशून्य नहीं होता, तो वह निश्चित रूप से मन की बात बतलाता। उसने मुझे कुछ भी नहीं बतलाया। चौदह वर्ष के बालक के लिए यह संयम आदर्श हो सकता है, किन्तु मेरे लिए यह सर्वथा नवीन मालूम पड़ा और मैं सोचने लगा कि इस उम्र में ऐसा मैं कर पाता या नहीं। मन ने कहा—नहीं। चौदह वर्ष की बात तो दूर रही, मैं अभी भी अपनी जिज्ञासा को इस संयम से नहीं बांध पाता हूँ। सत्येन्द्र का मन वह नहीं है, जो मेरा है।

उसने मुझे चुप देखकर कुछ भी कहना बेकार समझ

द्वार से आँगन की तरफ़ चला गया और 'दीदी-दीदी' चीखने लगा। दीदी आई और धीरे-धीरे थोड़ी-सी बातें हुईं। मैं सुन नहीं सका कि क्या बातें हुईं।

दो मिनट बाद मेरे कमरे में पाँवों और आवाज़ों का समाँ बँध गया। मधु, सत्येन्द्र, नीरजा, मिहिर, ब्लू···और इन तमाम चेहरों, आँखों और आवाज़ों के बीच, रेडियो के निकट रखा हुआ एक गुलाब का फूल।

गुलाब के फूल का रंग काला। काला गुलाब ! मधु ने काले रंग के गुलाब को कई दृष्टियों से परखा। अनोखा। उपहार देने की वस्तु। नये सौन्दर्य का स्रष्टा। उसने काले रंग पर कटाक्ष करते हुए मात्र गुलाब की कालिमा को उत्तम बतलाया। ऐसा करते समय उसने शायद मुझे भुला दिया था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब-जब मैंने अपने काले रंग पर उपहास किया है, उसने गहरी सहानुभूति के साथ उसकी तारीफ़ कर मेरे मन से हीन-भावना को भगाने का प्रयास किया है। उसके व्यंग्य से उसके तमाम भाई-बहन खुश हुए, गुलाब की उत्तमता पर तालियाँ बजाईं।

मिहिर ने प्रस्ताव किया कि इस गुलाब का एक पौधा अपने आँगन में भी लगाया जाए। प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। लेकिन पौधा लाया कहाँ से जाए ? कैसे ?

—नर्सरी से खरीदा जाए।

—पटना की किसी नर्सरी में नहीं है।

—कहाँ से लाये हो ?

—चेतन के गार्डन से।

—उसके पापा से बोलकर···

—केवल एक पेड़ है। छोटा-सा।

सत्येन्द्र की इस बात से सभी का चेहरा बुझ गया। क्या एक छोटी-सी टहनी का कलम बनाने नहीं देगा ?

—नहीं ? पौधा नाजुक-सा तो है ही।

—फिर यह काला गुलाब कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

मधु ने दिमाग़ लड़ाया। सत्येन्द्र ने सोचा। मिहिर ने कल्पना की। लेकिन गुलाब लाने की कोई तरकीब नज़र नहीं आई। इस बात पर इतनी देर तक और गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया कि गुलाब कल्प-वृक्ष से भी अधिक मूल्यवान होकर इन नावालिग़ों की गोष्ठी में उपस्थित रहा। किन्तु गुलाब से मूल्यवान होने के साथ प्राप्त होने की सम्भावना दूर होती गई। और पौधा न मिलने की बात, आख़िर में जब मधु के द्वारा उद्घोषित की गई, तो नीरजा रोने लगी—हम गुलाब का पेड़ लगायेंगे ही।

बहुत देर से इन लोगों की बातें सुन रहा था। आख़िर मैंने कहा—सत्येन्द्र, तुम चाहो तो गुलाब का पौधा ला सकते हो।

—कैसे ?

—चेतन के साथ तुम हमेशा उसके घर आते-जाते हो ?

—हाँ।

—एक टहनी उड़ा लाना कोई बड़ी बात है ! गुलाब की टहनी रोपने से लग जाती है।

सबके चेहरे पर ख़ुशी चमक उठी। अब निश्चित रूप से कोई ऐसी तरकीब बतलाई जाएगी कि गुलाब का पौधा आसानी से आ जाएगा।

मैंने सत्येन्द्र को गुलाब की टहनी उड़

तरीके बताये। सम्भव था, इनमें से सारे-के-सारे तरीके फ़ेल हो जाते, किन्तु मेरी बातों पर उन्हें इतना भरोसा था कि एक-एक तरीके को प्रसन्नता-भरे गले से 'सर्वोत्तम' कहते गए। वह गुलाब की टहनी को गिरने के बहाने अपने जूतों से तोड़ सकता था और आह-ऊह करते टहनी को बाहर फेंक सकता था और आने के समय उठाकर ला सकता था। यह था अन्तिम और सबसे कम खतरे वाला तरीका। वे एक साथ तालियाँ बजाकर खुश होने लगे।

फिर माँ को दिखलाने के लिए गुलाब का फूल उठाया गया और सब आँगन की ओर, मानस-घर में बैठी माँ के पास चले गये। मधु की अब उम्र नहीं कि बचपन के इन कामों में शरीक हो। मगर होती है। शायद अपने तमाम छोटे भाई-बहनों से ज्यादा। उनके साथ गाती है, रोती है, हँसती है। मोटी-मोटी किताबें अकेले पढ़ा करती है। उनके साथ तो गुड्डे के खेल खेलना ही ज्यादा पसन्द करती है।

वे चले गये तो मुझे एक क़िस्म की राहत मिली। गुलाब के पौधे लाने के विषय में नीरजा की कही बातों को याद करने लगा। सत्येन्द्र भैया! पेड़ नहीं दे, तो गमला ही माँग लो।

मेरा मन हँसने को हुआ। तभी मुझे लगा कि अभी-अभी मैंने जो बातें की थीं, वे कितनी महत्त्वपूर्ण थीं और मैंने ख़याल तक नहीं किया।

मेरे भाई-बहनों में से किसी को भी गुलाब उड़ा लाने की बात नहीं सूझी। वे हमेशा खरीदने और माँगने की बातें करते रहे। जहाँ से चेतन के पिता ने पौधा मँगाया है, वहीं से हम भी मँगायें। या फिर अपने पापा को बोलकर उनके ज़रिये चेतन से

पापा को प्रभावित कराया जाए। लेकिन काफ़ी देर तक सोचने के बाद भी कोई यह नहीं सोच सका कि पौधा उड़ाकर भी लाया जा सकता है। पौधा उड़ाकर ले आओ, यानी चोरी करो।

चोरी करो—अपराध !

अपराध की बातें सोचते ही मेरा मन उदास हो गया है। पौधा चुराना निश्चित रूप से गम्भीर अपराध है। मेरी बुआ कभी-कभी चोरी की परिभाषा उपस्थित करती है—सुनते हो सुकुमार! चोरों का एक सिलसिला होता है—लत्ती-चोर, रोटी-चोर, सिंधा-चोर, विंधा-चोर—यानी अमरूद-केला चुराने वाला, अन्न-पानी चुराने वाला, सेंध मारने वाला और खून करने वाला। मैंने अपने भाई को चोरी की प्रथम अवस्था से ही परिचित कराया था, मगर बीयर से ठर्रे पर उतर आना कौन-सी बड़ी बात है ! मुझे लगने लगा कि मैंने उसे चोरी की अन्तिम अवस्था तक पहुँचा दिया। वह फूल के पौधे को जूतों से तोड़ेगा। जैसे मेरी आँखों के आगे फूल की शाख टूट गई और उससे लहू बहने लगा और आस-पास की ज़मीन भीगने लगी। सत्येन्द्र बगल में खड़ा है—बिखरे बाल, लाल आँखें, फटे-गन्दे वस्त्र। यह सब मैंने ही किया है···

लेकिन मैंने ऐसा क्यों किया ? मैंने खुद कभी चोरी नहीं की। ज़रूरत नहीं पड़ी। बचपन से मुझे शिक्षा दी गई कि चोरी करना बुरा कर्म है। घर के वातावरण में इस कला के लिए कहीं गुंजाइश नहीं। फिर मेरे भीतर यह चोर कहाँ से आ गया ?

मुझे उस समय का दृश्य फिर याद पड़ जाता है। तमाम भाई-बहन किस प्रकार समस्या सुलझाने में लगे थे और हारकर चुप हो जाते थे। उनकी आँखों में सादगी और भोलेपन की

अजीब-सी चमक थी—जैसी चाँदनी में होती है। वे कुछ पाना चाहते थे और इन्सानियत के तर्ज पर पाने की तरकीब निकालना चाहते थे। मगर हार जाते थे और उनके चेहरे की चाँदनी कुछ गँदली हो जाती थी—खुशियों की सुर्खी पर सर्द हवा का आलम छा जाता था। मैंने जब उन्हें चोरी की बात बतलाई, तो मेरी आँखों में कटार की चमक और तीखापन आ गया था।

यह अपराधी मनोवृत्ति का सबूत है। यह मनोवृत्ति कहाँ से आई? उत्स क्या है?

मैं मन-ही-मन मनोवेत्ताओं की अपराधियों के सम्बन्ध की परिभाषाओं और विश्लेषण को दुहराता हूँ। अपराधी होने का सीधा और सरल रास्ता वंशानुक्रम है। किन्तु इस परिभाषा की जैसी व्याख्या अवसर मनोविज्ञान प्रस्तुत करता है, वह सर्वांश सही हो, यह कहा नहीं जा सकता। सामाजिक परिवेश, सांस्कृतिक वातावरण एवं आर्थिक स्थिति का समान दबाव इस परिभाषा की पहली शर्त है। मैं अपने परिवार के विषय में सोचता हूँ तो लगता है, यह सब झूठ है मेरे लिए।

दूसरी बड़ी बात, जो अपराध के लिए लागू हो सकती है, वह है परिवार की बड़ी सन्तान होना। अमेरिका, जर्मनी आदि के कुछ अपराधशास्त्रियों ने इस तरह के आँकड़े प्रस्तुत किये हैं। लेकिन यह सत्य भी पथ-भ्रष्ट मालूम पड़ता है। इसलिए कि जिस समाज और परिवार के ये आंकड़े हैं, वहाँ जीवन की गति बड़ी तीव्र एवं स्पर्धापूर्ण है। हमारे यहाँ का माहौल वैसा नहीं है।

फिर यह चोर कहाँ से आया है?

यह कटार किसकी है?

यह चोर कौन है ?

चाँदनी में इसे नहीं होना चाहिये, मगर है। हाथ में जान-लेवा कटार है। चोर को वन्दी होना चाहिये। मैं वन्दी करूँगा और चेहरे से नक़ाव और रोगन हटा दूंगा।

सुकुमार ! मैं तुम्हें वन्दी वनाऊँगा···

सात

मेरे भीतर का रहस्य-भेदी प्रतिपल प्रवल होने लगा। जैसे मैं पुलिस का कोई अधिकारी होऊँ और किसी भयंकर चोर की कहीं होने की सूचना मिली हो। किन्तु जिज्ञासा की इस मानसिक स्थिति में मुझे वार-वार पिताजी की याद आती रही—यूं ही, अकारण; मन भटककर वहीं पहुँचता रहा।

पिताजी लगभग नौ वजे आये।

उनका चेहरा उदास था और छोटे-छोटे वालों में रूखापन अधिक मालूम हो रहा था। ऊँची तोंद पर वे कसकर वेल्ट वाँधते हैं, चाहे पेंट की क्रीज़ कितनी भी टूटी क्यों न हो ! आज वह वेल्ट भी कुछ ढीला-ढीला लगा। उनकी हाफ़ कमीज़ से वाहर झाँकती हथेलियों में शिथिलता थी। यह मैंने तव महसूस किया, जव वे आकर कमरे में रखी कुर्सी पर वैठ गए।

वाहर वाला यह कमरा, जिसका सम्वन्ध वाहर के वरामदे और भीतर के आँगन से है, ड्राइंगरूम के रूप में व्यवहृत है; यद्

का बोध नहीं होता है। मैंने बच्चों की बीमारी के समय, पारिवारिक झंझटों में या अन्य चिन्ता उपजाने वाली घड़ियों में माँ को देखा है। गम्भीर, स्थिर, कोई हलचल नहीं, घबराहट नहीं। यह ज़रूर होता है कि उनके होंठ सूख जाते हैं और पपनियाँ काँपती रहती हैं। जहाँ तक बाह्यमुखी होने की बात है, माँ बिलकुल नहीं हैं। माँ के मन की बात ब्रह्मा भी नहीं जान सकते। दिन या महीनों की बात नहीं, कई घटनाएँ और बातें उनके मन में वर्षों पकती रहती हैं और समय आने पर प्रकट होती हैं।

शारदाचरण की बीवी के साथ हुई घटनाओं को मैं नहीं भूल सका हूँ। मेरा जन्म हुआ था। उस समय मेरा रंग और ज़्यादा काला था। शरीर और अधिक कुरूप था। जब मैं सौर-घर से बाहर लाया गया और पास-पड़ोस की औरतें मुझे देखने आईं, तो शारदाचरण की बीवी ने, जो उस समय तक बहुत पुरानी दुल्हन न हो पाई थीं, मेरी कुरूपता पर मज़ाक किया था। बात कोई संगीन नहीं थी, इसलिए आई-गई हो गई।

ऐसी घटनाएँ समाज में प्रतिदिन दस-बीस घटती हैं, अतः किसी को याद रखने का पागलपन क्यों सवार हो! और लोगों की बात मैं नहीं करता, स्वयं मेरे जन्म की कहानी है, अतः मेरे याद रखने या जानने का खयाल ही पैदा नहीं होता। किन्तु इस घटना के साथ एक और घटना का सम्बन्ध है, जिससे मुझे इस घटना को याद करना पड़ रहा है।

शारदाचरण की पत्नी की शादी यद्यपि मेरे जन्म से तीन साल पहले हुई थी, किन्तु पहली सन्तान हुई पिछले साल। यानी काशी, पुरी, देवघर एवं अनेक स्थानीय देवताओं की पूजा-अर्चा

कर जब परिवार लगभग थक चुका था, तो ईश्वर ने एक सन्तान दी। लड़का। धूमधाम से छठी मनाई गई। माँ भी गईं। पता नहीं, उसके घर जाकर माँ ने कुछ कहा भी या नहीं, किन्तु जब घर आईं, तो बहुत खुश थीं। जल्दी-जल्दी हाथ-पाँव धोये, कपड़े बदले और आँगन के तुलसी-चबूतरे के निकट गईं। झुककर प्रणाम किया। मंत्र बुदबुदाईं। मंत्र की समाप्ति पर उठीं और चबूतरे पर से एक बेडौल, काले पत्थर को उठाती लाईं। मुझे झटपट तैयार होने को कहा गया। बिना कुछ बोले मैं तैयार हो गया। माँ के साथ गंगा-किनारे गया। माँ ने उस पत्थर को अतिशय श्रद्धापूर्वक गंगा में प्रवाहित किया। झुककर प्रणाम किया और किनारे से बाहर आ गईं।

मुझे अच्छी तरह याद है। कुल बारह-चौदह महीने पहले की घटना है, जैसे कल ही घटी हो। माँ के चेहरे पर खुशी की अपूर्व लाली थी। रिक्शा पर बैठ जाने के बाद अपनी खुशी को अपने तक सीमित रखने में असमर्थ हो गईं। प्रफुल्लित गले से बोलीं—जानता है रे ?

—एँ···!

—भकुआ कहीं के ! क्या सोच रहे हो ? आज बिसुन बाबा ने मेरी अर्ज़ी सुन ली !

माँ जब खुश होती है, तो 'भकुआ', 'उल्लू', 'गदहा' आदि कहकर प्रेमपूर्वक सम्बोधित करती हैं। लड़कियों को 'लुच्ची', 'बदमाश', 'पाजी' आदि कहती हैं। ऐसे सम्बोधनों को पाकर हम जान जाते हैं कि माँ बहुत खुश हैं और निश्चित रूप से हमें प्यार करेंगी। हम ऐसे समय में चुप रहते हैं या कोई अनुकूल चीज

माँगते हैं। अभी माँगने का मौक़ा नहीं था, अतः चुप रहा। मेरी चुप्पी से माँ के मूड में कोई फ़र्क नहीं आया। हँसी-भरे लहज़े में उन्होंने कहा—जिस दिन तुम्हारा जन्म हुआ था, उसी दिन से मैं विसुन बाबा की पूजा करती थी। शारदाचरण की बीवी ने तुम्हें देखकर मज़ाक किया था। सो मैं विसुन बाबा को स्थापित कर उसी दिन से पूज रही थी कि विसुन बाबा, मुझे बदला देने का मौक़ा दे। वह आज पूरा हो गया। शारदाचरण के लड़का हुआ है। बस एक पूँछ की कमी है—पूरा बन्दर है, बन्दर! और, मेरा बेटा! चाँद का टुकड़ा है—हीरा! आकर हरामज़ादी नैन सेक जाए··· !

फिर वह ख़याल किये बिना कि हम लोग रिक्शा पर हैं, रिक्शा नगर के कोलाहल से होकर गुज़र रहा है और मैं इक्कीस वर्ष का बेटा हूँ, माँ ने मेरी बलैया लेते हुए मुझे चूम लिया।

माँ की आँखों में आँसू थे, जिन्हें उन्होंने धीरे-धीरे पोंछ डाला। आँसू पोंछ लेने पर उन्होंने विसुन बाबा की महत्ता पर प्रकाश डालना प्रारम्भ किया।

विसुन बाबा कोई अवतारी देवता नहीं, जैसे ब्रह्मा, कार्तिक या गणेश हैं। वह तो माँ के पिता के वंश में लगभग सौ साल पहले पैदा हुए विसुनप्रसाद हैं। विसुनप्रसाद जिस गाँव में रहते थे, वहाँ एक बहुत बड़ा ताल्लुकेदार था। विसुनप्रसाद ताल्लुकेदार के दरबार में नौकरी करते थे। ताल्लुकेदार जाति का हरिजन था। अंग्रेज़ सरकार की वफ़ादारी की वजह से ताल्लुकेदार बन गया था। सोहबत अंग्रेज़ों की थी। माँस-मदिरा सर्वोपरि चीज़ थी। सो उस ताल्लुकेदार की नज़र

बिसुनप्रसाद की एकमात्र बहन पर पड़ गई। बहन रातों-रात घर से ग़ायब कर दी गई। बिसुनप्रसाद कई दिनों इस उम्मीद में भटकते रहे कि कहीं उसकी खोज-खबर मिलेगी। बाद में पता चला कि वह ताल्लुकेदार की हवेली में है। बिसुनप्रसाद घर आये। कई दिनों तक घर में पड़े रहे। पास-पड़ोस के लोगों ने समझाया कि गाँव-समाज के लोगों के पास फ़रियाद की जाए, या सीधे मुक़दमा दायर किया जाए। किन्तु बिसुनप्रसाद का दिमाग़ ज़माने को पहचानता था। इन सारी बातों से उस भयंकर ताल्लुकेदार का कुछ भी नहीं बिगाड़ा जा सकता था। सो, काफ़ी सोच-समझकर उन्होंने कई दिनों बाद दरबार में प्रवेश किया। पहले तो ताल्लुकेदार चौंका, किन्तु एकान्त में मिलकर बिसुनप्रसाद ने ताल्लुकेदार को समझाया कि जो हो गया, उसे तो वापस नहीं किया जा सकता; हाँ, इतना किया जाए कि हवेली की बात हवेली तक ही सीमित रहे।

ताल्लुकेदार खुश हो गया। आनन-फानन मामला निबट गया। बिसुनप्रसाद की तनख्वाह बढ़ा दी गई। दरबार में सर्वेसर्वा हो गए। यह हालत तीन वर्ष तक रही। ताल्लुकेदार को उस पत्नी से एक बच्ची भी पैदा हुई।

और, तब एक दिन, खूब सवेरे, उस गाँव में आग की तरह यह खबर फैल गई कि बिसुनप्रसाद ने आज रात, सोते समय, ताल्लुकेदार, अपनी बहन और नन्ही बच्ची को क़त्ल कर दिया। बिसुनप्रसाद को फाँसी की सज़ा हुई। निष्कर्ष के रूप में माँ ने कहा—तब से अपने घर में यह रिवाज चला आता है कि अगर किसी से बदला लेना हो, तो बिसुन बाबा का प्रतिष्ठापन कर

नित्य पूजा करे। विसुन बाबा मनोकामना पूरी करते हैं। मेरी प्रार्थना उन्होंने सुन ली।

मैं उस समय दूसरी तरफ़ देख रहा था। मुझे कुछ अन्य-मनस्क देखकर उन्होंने अन्दाज़ लगाया कि बदला लेने को मैं शायद बहुत महत्त्वपूर्ण बातों में नहीं गिन रहा हूँ। सो उन्होंने अपनी आवाज़ में थोड़ी अधिक तल्खी और बुज़ुर्गी का रौब मिलाते हुए कहा—मेरे शरीर में विसुनप्रसाद का रक्त है। उस खानदान में कोई ऐसा नहीं होता जो बदला न ले। नापकर और गम्भीरतापूर्वक अगर बदला नहीं लिया, तो आदमी-कोख में जन्म क्यों लिया ? हर आदमी को उसके काम का पुरस्कार मिलना चाहिए—चाहे वह बाप हो, भाई हो या कोई भी हो। और बदला, किये गए बर्ताव के पुरस्कार के अलावा और है क्या ?···

इस सिलसिले में माँ के कई ऐसे ही रूप मेरी आँखों के आगे नाचते हैं, जिनसे उनकी अथाह मनोवृत्ति का पता चलता है। कोई भी काम बिना सोचे नहीं करतीं और बच्चे हों या बूढ़े, प्रत्येक अच्छे-बुरे काम का पुरस्कार अनुपात से देना उनका धर्म हो गया है।

उन्मुक्त हँसी और फूट-फूटकर रोना—दोनों ही मैंने देखे हैं। किन्तु यह कहना किसी के लिए सम्भव नहीं कि उन आँसुओं और हँसी के पीछे कौन-से भाव होते हैं। माँ हँस रही हैं और उसी बीच किसी एक बच्चे पर बिगड़ उठती हैं, बिगड़ने की सकारण व्याख्या कर देती हैं और हम मान लेते हैं कि उनकी व्याख्या सही है। उस समय यह सोचना कठिन हो जाता है कि

माँ वास्तव में हँस रही थीं या उन कारणों को [illegible] जिनकी वजह से वे किसी पर गुस्सा कर रही हैं। [illegible] सागर हैं। मन का आर-पार नहीं। [illegible]

पिताजी अत्यन्त हल्के पाँवों से [illegible] चेतना को जैसे उनके आने की आहट [illegible] होकर उन्होंने बाहर की ओर देखा। [illegible] पुनः अपनी पुस्तक पर चली गई। [illegible] दर्शनीय होती है। जैसे उनकी [illegible] तीनों का सम्मिश्रण है। [illegible] लेना और तदनुरूप प्रक्रिया से निश्चिन्त [illegible] ही आसान है।

माँ स्थिर चित्त से पुस्तक में [illegible] कि पिताजी उपेक्षित हैं। वे कुर्सी पर बैठ [illegible]

उनका इस प्रकार आकर बैठना [illegible] नहीं है। वे अक्सर आकर इसी प्रकार [illegible] हैं। मगर बैठने के साथ उनके होंठ [illegible] बच्चे या माँ को सम्बोधित [illegible] वातावरण हल्का हो जाता है। [illegible] होंठ अनाथ हैं। वे चाहकर भी [illegible] पा सकते। पिताजी की [illegible] की कई-कई परतें बिछी [illegible] पूरा व्यक्तित्व आकुंचित [illegible]

आठ

मौन में एक खास क़िस्म की ताक़त होती है—काटने की ताकत। चेतन व्यक्तित्व को कौन काटता है! माँ का व्यक्तित्व चेतन है। पिताजी का मौन उसके लिए प्रतिक्रियात्मक हुआ। उन्होंने पुस्तक को एक ओर रखा और पिताजी को देखने लगीं। आँखें अनुभवी हैं। देखते ही पता चल गया कि पिताजी वैसे नहीं हैं, जैसे होते हैं।

—बहुत उदास लग रहे हो?

—हूँ।

—तबीयत खराब है क्या?

—सिर में दर्द है।

माँ उठकर बैठ गईं। हाकिमाना लहजे में पिताजी को स्नेह की झिड़कियाँ मिलने लगीं। उन्हें शरीर का कुछ खयाल नहीं रहता। कोर्ट करते हैं। अपने पचास काम रहते हैं, ऊपर से समयखोर दोस्तों के साथ सिर खपाते रहते हैं। अपना क्या है, पड़े रहेंगे। जिसको झेलना पड़ेगा, वह जाने।

थर्मामीटर लाया गया। साढ़े निन्यानवे। माँ की आवाज तेज हुई और फुआजी, मधु और मुझे बुलाया गया। पिताजी को उनके सोने वाले कमरे में ले जाया गया। वे बिस्तर पर लिटा दिये गए। माँ सिरहाने में कुर्सी लगाकर बैठीं। मुझे सिर-मालिश का काम मिला। मधु तलवा रगड़ने लगी। फुआजी पानी गर्म करने चली गईं। माँ कुछ देर बैठने के बाद कमरे से बाहर चली गईं और कुछ ही मिनटों के बाद हाथ में आयुर्वेद का एक ग्रं

लिये पहुँचीं और सिरहाने की उसी कुर्सी पर बैठ गईं। कुछ देर पढ़ने के बाद वह पिता से जब-तब एकाध शब्द पूछकर लक्षण मिलाने लगीं।

मैं इन सब बातों से परे पहुँच गया। कुछ देर पहले मैं शून्य की स्थिति में था, किन्तु मुझे जबर्दस्ती झकझोरा गया था, अपनी जगह से उठाया गया था और पिताजी के सिरहाने लाकर बिठाया गया था। थोड़ी देर तक मैं माँ, पिताजी और मधु को देखता रहा। धीरे-धीरे मुझे लगा कि मधु कमरे से ग़ायब हो गई है। माँ की मूर्ति लुप्त हो गई है। मेरे सामने पिताजी हैं, जिनके शरीर में प्राण नहीं हैं।

मैं अपने दोस्तों के साथ मेडिकल कॉलेज के एनाटॉमी क्लास में जाकर उनकी पढ़ाई देख आया हूँ। टेबुल पर मुर्दे पड़े रहते हैं और विद्यार्थी उस टेबुल के किनारे खड़े होकर मुर्दे को उलटा-पलटाकर देखते हैं और अपनी नोट-बुक में दर्ज करते जाते हैं। लगता है, मेरे आगे भी पिताजी उसी तरह लेटे हुए हैं। मैं इन्हें उलटा-पलटाकर देख सकता हूँ और नोट तैयार कर सकता हूँ।

तेल लगाने के बहाने मैं पूरे शरीर पर अपनी अँगुलियाँ चला सकता हूँ। किन्तु मुझे लगता है कि मेरी अँगुलियों में आँखें हैं, जिनसे एक्स-किरणें निकल रही हैं, जो पिताजी के शरीर के भीतर के ज़र्रे-ज़र्रे को देख रही हैं। लगता है, मेरी अँगुलियों में ज़बान है, जो प्रश्न कर रही है और कान हैं, जो दिये गए उत्तरों को सुन रहे हैं।

यह सब शायद इसलिए हो रहा है कि पैदा होने से लेकर आज तक मैंने इस शरीर को जितना जाना है, शायद धरती के

किसी दूसरे पुरुष-शरीर को नहीं जाना है।

मेरी अँगुलियाँ अधिक सजग हो जाती हैं। मैंने पिताजी से सम्पूर्ण शरीर की मालिश का प्रस्ताव किया। तेल गरम कर लाया गया। टेबुल-लैम्प को निकट ले आया। मेरा भक्त मन ज्ञानी होने लगा।

मुझे ठीक-ठीक याद नहीं कि रात मैंने कैसे गुज़ारी। कब पिताजी को नींद आई और कब माँ ने मुझे खाने को बुलाया और मैंने कब खाना खाया। बहुत रात गए मैं अपने स्टडीरूम में गया। यह कमरा बाहर के बरामदे पर है, अतः निश्चिन्त रहता है। टेबुल-लैम्प जलाकर मैं लिखने बैठ गया।

मेरे आस-पास लिखे-बिनलिखे कागज़ फैले हैं। टेबुल-लैम्प की रोशनी फीकी पड़ गई है। गली में अँधेरा डुबकता जा रहा है। किसी के चलने की आहट आई थी। महेन्द्रू में खुलते हुए स्टीमर की भीम-स्वर सीटी बजती है। मेरी आँखें थकी-थकी हैं। थकी-थकी आँखों से मैं एक बार टेबुल पर फैली मोटी किताबों और काग़ज़ों को देखता हूँ। किताबों को हाथ से एक ओर टाल देता हूँ। काग़ज़ों को समेटता हूँ। लिखे पन्नों को व्यवस्थित करता हूँ। उसके पहले कि मैं इन्हें समेटकर अपने बैग में रखूँ, एक बार पढ़ लेना चाहता हूँ।

पिताजी का शरीर बालों से भरा है। बाँहों और छाती पर और पैरों में लम्बे-लम्बे, काले-काले, मोटे-मोटे बाल हैं। सिर पर सघन, काले, घुँघराले और मोटे-मोटे बाल हैं। बालों का सिलसिला गर्दन पर होते हुए पीठ तक चला गया है। बालों की यह उर्वरता उनके कानों तक है। कानों के ऊपरी हिस्सों पर भी

वाल हैं। ये वाल वहुत ही मोटे हैं और पिताजी की अच्छी भरी-पूरी मुखाकृति के लिए अशोभन हैं। भौं के वाल भी लम्वे और वहुत काले हैं। पलकों के नीचे जो पपनियाँ हैं, वे जैसे झुकाये धनुप हों।

मैंने तेल में कीड़े पड़ने के वहाने टेवुल-लैम्प को उनके सिर से सटाकर उनके वालों को निकट से देखा है। उनके वालों की जड़ों का स्थान ग्रहण करना कुछ विचित्र-सा लगा। अक्सर वालों की उपज तीन-पाँच, पाँच-सात या दो-पाँच के गुच्छों में होती है। वरावर दूरी पर तीन वाल हैं, फिर थोड़ा-सा स्थान खाली है, फिर पाँच वाल होते हैं। ये वाल तीन-पाँच, पाँच-सात या दो-पाँच के हिसाव से हों, किन्तु प्रत्येक वाल की दूरी वरावर होती है और अर्ध-चन्द्राकार जमे होते हैं। वीच की खाली जगह पर सीधी लकीरों में या चक्राकार चमड़े की रूखड़ी वनावट होती है। लेकिन पिताजी के साथ वालों की गिनती का सिलसिला कोई ठीक नहीं है। चार-सात या तीन-पाँच का सिलसिला है। इस सिलसिले में कोई तुक नहीं है। कहीं लगातार तीन-पाँच के कई जत्थे, कहीं लगातार चार-सात की वस्ती। एक अजीव सिल-सिला···

(मेरे सिर के वाल सीधे, पतले और हल्के रंग के हैं। मैं उन्हें एक तरफ कर कंघी करता हूँ। ये वाल मेरी वायीं आँख पर झुके रहते हैं।

शरीर पर वाल नहीं हैं। होने की उम्मीद भी नहीं। इस उम्र में अच्छी तरह मूंछें-दाढ़ी नहीं हुई।)

···पिताजी के कान प्रश्नवाचक चिह्न की तरह

खड़े। किन्तु नीचे का हिस्सा, जहाँ कान खत्म होता है, कॉमा की तरह, गाल की तरफ मुड़ा हुआ है। चमड़े की छतरी दो हड्डियों पर खड़ी है। ये हड्डियाँ दूर से नज़र आती हैं। सूराख पर पर्दा करने के लिए, गाल की तरफ से, जो चमड़े की पत्ती होती है, वह पीपल-पात की तरह बीच में गोल और ऊपरी हिस्से में नुकीली है। कानों के किनारे लम्बे-लम्बे बाल हैं।

(मेरे कान, जैसा मैं दर्पण में देखता हूँ, शंखनुमा हैं। नीचे का हिस्सा एकदम नुकीला है। छतरी धारण करने वाली सिर्फ़ एक हड्डी है, जो कई जगह उमेठी हुई है। पर्दे की पत्ती अर्धवृत्ताकार है। मेरे कान चेहरे के अनुपात में छोटे और खूबसूरत हैं।)

···पिताजी का ललाट मेरी अँगुलियों से साढ़े तीन अंगुल है। बीस वर्ष की उम्र तक, साधारणतः, जहाँ तक बालों को फैलना होता है, फैल जाता है। पचीस से तीस वर्ष तक सिर के बाल अपनी जगहों पर जमे रहते हैं। तीस के बाद, अक्सर, ललाट के ऊपरी हिस्से के बाल ऊपर खिसकते हैं और ललाट का क्षेत्र बढ़ता है। यह कम या अधिक प्रायः सब पर लागू होता है। पिताजी चालीस से ऊपर के हैं। मेरी उम्र में उनका ललाट निश्चित रूप से साढ़े तीन अंगुल से कम रहा होगा। यह ललाट बीच में उथला है, जिसके दोनों किनारे टेढ़े-मेढ़े हैं। कुल मिलाकर उनका ललाट सपाट और समतल नहीं है। समतल ललाट की चमड़ी को सिकुड़ाने पर तीन रेखाएँ बनती हैं। इस उम्र में चाम में ढीलापन आ जाता है, अतः अधिक रेखाएँ आनी चाहिएँ···

(मेरा ललाट इस उम्र में ही साढ़े तीन अंगुल से कुछ बड़ा

है। चार रेखाओं की समतल ज़मीन है।)

…नाक के विषय में सोचता हूँ, तो लगता है, इस मामले में पिताजी बहुत सारे इन्सानों से अधिक भाग्यवान हैं। लम्बी-पतली मूर्ति की तराशी गई नाक हो जैसे। छोटी-छोटी सूराखें। नाक का ऊपरी हिस्सा जहाँ समाप्त होता है, झुके हुए संकेत की तरह ख़ूबसूरत है।

(हे ईश्वर! आज मैंने तुम्हारी करामात को ग़ौर से देखा, यद्यपि रात है, फिर भी बिजली की तेज़ रोशनी में, तुम्हारी दी गई इस नाक को मैं दर्पण में साफ़-साफ़ देख रहा हूँ। हे ईश्वर! पथराई हुई कच्ची ईंट को मेरे चेहरे पर थोपकर तुम्हें क्या मिला?)

…लेकिन नाक की घ्राण-शक्ति में बात उल्टी हो जाती है। मैंने पिताजी के सिर में, कल रात आँवले का तेल दिया, जिसकी सुगंध दूर-दूर तक फैल रही थी, मगर पिताजी ने कहा—सरसों का तेल ज़्यादा मत दो, सिर कुट-कुट करने लगता है।

…पिताजी के जबड़े, ऊपर और नीचे के, बराबर हैं। वे आयताकार हैं। चेहरा भरा-पूरा लगता है। दाँत छोटे, पतले और कतार में हैं। कुल मिलाकर उनके चेहरे पर ग्रीक भाव अधिक है। अनुपातत: गर्दन मोटी है।

(मेरे जबड़े बराबर नहीं हैं। ऊपर का जबड़ा बड़ा है, उसी अनुपात से दाँत भी हैं। नीचे का जबड़ा छोटा है। नीचे के दाँत भी छोटे और पतले हैं। फलस्वरूप मेरा ऊपरी होंठ हमेशा उठा रहता है।)

(जबड़ों के सहारे अगर मेरा और पिताजी का

किया जाए, तो निश्चित रूप से पिताजी पूरा-मंगोल और मैं नीग्रो-मंगोल शाखा में रखा जाऊँगा।)

पिताजी सीधा तनकर चित सोये थे। मधु तलवे रगड़कर चली गई थी। उन्होंने मुझे पैर की अँगुलियाँ बजाने के लिए कहा। मैं पायताने गया। पैर की अँगुलियाँ बजा चुका, तो उन्होंने हाथ की अँगुलियाँ बजाने को कहा। पायतने से ही मैंने उनके हाथों को थामा। दायाँ हाथ था। बिना खींच-तान किये मैंने हाथ को सीधा फैला दिया। हाथ की अँगुलियों का अन्तिम बिन्दु जहाँ था, घुटने के जोड़ की गोल हड्डी वहाँ से छः अंगुल की दूरी पर थी।

(मैं सीधा खड़ा होकर अपने हाथ नीचे गिराता हूँ। घुटने की वह गोल हड्डी सिर्फ़ दो अंगुल बच जाती है। हाथ-पैर के अनुपात में, निश्चित ही मेरा हाथ बड़ा है।)

चलने के समय मेरे हाथों में गति नहीं के बराबर होती है। वह बहुत ही कम आगे-पीछे होता है। पिताजी के साथ वैसी बात नहीं है। चलने के समय उनके हाथों में अधिक गति रहती है और वे काफ़ी दूर-दूर तक आगे-पीछे होते हैं।

आखिर में पिताजी ने कहा—सोने दो। जाओ। मैं तीन शब्द लेकर कमरे से बाहर निकल आया। लेकिन ये तीन शब्द मेरे लिए सैकड़ों पृष्ठ की बातें दे गए। सो के बिचले हिस्से पर स्वर-दबाव, ने का आखिरी उछाल, दो का मध्यम लय। पूरी आवाज़ ठोस, एक-रस, झंकार-हीन। मेरी ध्वनि-ग्रन्थियाँ ऐसी नहीं हैं। मैं इन तीन शब्दों को किसी भी स्थिति में उस तरह उच्चारित नहीं कर सकता हूँ। मेरी आवाज़ ठोस नहीं है। शब्दों के उच्चारण में मेरे गले से मुख्य ध्वनि के अलावा हल्की और

बेसुरी झंकार होती है।

पिताजी को सर्दी लगी थी, तब भी आवाज़ फटी नहीं थी। उन्हें हल्का बुखार था, साढ़े निन्यानवे टेम्परेचर…

…टेम्परेचर ! विकास-रहित अवस्था में पिताजी का टेम्परेचर साढ़े सतानवे रहता है। उम्र की ढलान के साथ शरीर की गर्मी कम होती है।

(मेरा नार्मल टेम्परेचर सतानवे है।)

…लगभग डेढ़ वर्ष पहले की घटना है। मेरी माँ की एक चचेरी बहन पटना आई। हम लोग अस्पताल ले गए। डिलिवरी केस था। ऑपरेशन तय हुआ। उनका शरीर कमज़ोर था। खून की ज़रूरत होती। ब्लड बैंक से मौके पर उचित मात्रा में खून मिले या नहीं, भरोसा नहीं। हम लोगों ने अपना खून जँचवाया। पूरे परिवार का खून आर-एच प्लस…

खून की इस जाँच ने मेरे सारे नोट्स को एक किनारे रख दिया। अगर नोट्स के शेष अंशों की तरह मेरा रक्त भी अपना अलग परिचय देता…! तब शायद मैं मानसिक यंत्रणा की इस परिधि से बाहर हो जाता।

भौतिकी की डोर पकड़कर मैं अपने भटकाव के एक किनारे होना चाहता हूँ—ऐसा किनारा, जहाँ मेरे पाँवों के नीचे ठोस जमीन और सिर पर खुला आकाश हो और मुझे ठीक-ठीक पता मैं कहाँ अवस्थित हूँ।

के रचना-विधान और मानव की समाजशास्त्रीय प्रक्रिया-सा उद्घोष छिपा है। इसलिए मेरे लघुतम समापवर्त्त का महत्व है। मनु, याज्ञवल्क्य, फ्रायड, डारविन, आइन्स्टीन का मैं अपरिहार्य चिन्तन-बिन्दु हूँ।

भौतिक सांख्यिकी की पराजय मेरा मन स्वीकार नहीं करता है। कोई एक कड़ी है, जो कहीं टूट रही है और मेरा इतिहास अगोचर हो रहा है। मेरा मन इतिहासकार पर गुस्सा करता है। रोम की गलियों, पिरामिड की ऊँचाई और अशोक-स्तम्भ की मोटाई मापने वालों ने अपने को इतिहासकार घोषित किया है। मगर किसी इतिहास में यह नहीं लिखा है कि जिसने अपनी तर्जनी से पहली बार नील नदी की घाटी में बालू की खुरदरी सतह पर पिरामिड की सम्भावना की लकीरें खींचीं, उसकी तर्जनी से होंठ पर चमड़े की लकीरों से चक्र की आकृति बनती थी या शंख की और उस आकृति का उत्स क्या था और कालान्तर में किस ओर प्रगति हुई।

मेरा गुस्सा खत्म हो जाता है। मेरे मन पर आतंक और भय की छाया उतरने लगती है। मानव का अनन्तकाल का इतिहास, अनन्त परिभाषाएँ, अनन्त दृष्टान्त और अनन्त निष्कर्ष। योगफल शून्य।

हम जन्म से बहुत पहले, शायद लाखों-करोड़ों वर्ष पहले, से ठगे गए हैं। एक इकाई को भटकाव में डालने के लिए करोड़ों वर्ष से धोखा देने का सामूहिक प्रयास किया गया है।

मुझे भय लगता है—अपहृत किये जाने का।

भय भी एक अजीब चीज़ होती है। मेरा भय औरों के भय

से भिन्न है। तीन साल पहले की घटना है। माँ स्टोव में तेल डाल रही थीं। टीन से तेल स्टोव में जा रहा था, दूसरी ओर तेल का कुछ हिस्सा माँ की साड़ी पर चू रहा था। माँ को पता नहीं। टीन रखकर जब उन्होंने स्टोव जलाने के लिए दियासलाई घिसी, तो जलती तीली साड़ी से छू गई और साड़ी में फक्क से आग लग गई। माँ चीख पड़ीं। हम लोग आँगन में जलपान कर रहे थे। सभी घर के भीतर दौड़े। पिताजी वहाँ पहुँचकर काठ की मूर्ति हो गए। मुँह से आवाज़ नहीं निकलती थी। हम लोगों ने कम्बल डालकर आग बुझाई। माँ का पैर ज़रा-सा जला था। किन्तु उनकी भयातुर चीख से पिताजी इस कदर डर गए थे कि उनका ब्लड-प्रेशर बढ़ गया और वह कई दिनों बिस्तर पर आराम करते रहे।

भय मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है। उसकी मात्रा व्यक्ति के संस्कार पर निर्भर है। संस्कार परम्परा की धरोहर है। मैं शरीर से दुबला-पतला हूँ, किन्तु मन से अधिक निर्भय हूँ।

मेरी निर्भयता किस संस्कार की उपज है? क्या यह पितृ-परम्परा का दिग्भ्रम है? या परम्परा की कड़ियों का विलगाव? यह एक रहस्य है। अन्धकार। मगर हम अन्धकार में भी जीते हैं। अन्धकार में जीकर हम अन्धकार से लड़ते हैं। यह मनुष्य है। धर्म है। तमसो मा ज्योतिर्गमय ·····

नौ

अलमारी, बक्से, छज्जे और ताखों को खोज डाला। शायद कोई सूराग मिले। शायद कुछ ऐसा मिले, जिसका मैं इच्छुक हूँ। मैं जानता हूँ कि वैसा कुछ पाना मेरे हक में शुभ और मंगलमय नहीं है। गरम शलाकाओं को हाथ से पकड़ना किसे सुखद लगता है? मगर एक स्थिति होती है कि आदमी वैसा ही कुछ करना चाहता है कि उसे चोट लगे, चुभे, जलन हो। लेकिन यह चोट, यह चुभन, यह जलन क्या खोजने पर तुरन्त उपलब्ध होती है?

मेरे सारे प्रयास निष्फल रहे। जैसे जहाज़ से कूदा हुआ मुसाफ़िर अपने आस-पास केवल लहरों को पाता है—अन्तहीन सागर की निःशेष लहरें। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि जहाज़ से कूदकर लहरों से जूझनेवाले मुसाफ़िर को भँसती हुई कोई काठ की तख्ती हाथ लग जाती है और वह लहरों को पार कर किसी बालू-भरे किनारे पर जा पहुँचता है। ऐसा अवसर जासूसी उपन्यासों में दिखलाया जाता है। फ़िल्म के पर्दों पर भी यदाकदा ऐसा दृश्य पाते हैं। जासूसी उपन्यासों का जासूस, जिसे अपने साहस और बहादुरी का रेकार्ड बनाना होता है या फ़िल्मी-हीरो, जिसे कथा को आगे बढ़ाने के लिए लेखक का अमृतघट पीना पड़ता है, अक्सर ऐसे दृश्य उपस्थित करते हैं। मैं ऐसी कल्पना को हमेशा घटिया मानता रहा हूँ, लेकिन आज वैसा नहीं कर पाता हूँ। ऐसी घटनाएँ इसलिए हास्यास्पद मालूम पड़ती थीं कि उन्हें एक ही तरीके से कई लेखक इस्तेमाल करते

रहे हैं और मेरा सम्बन्ध उस दृश्य से सिर्फ़ चन्द लमहों के लिए रहा, वह भी एक तटस्थ पाठक या दर्शक की हैसियत से। लेकिन अपने जीवन में घटी ऐसी ही घटना के विषय में जब सोचता हूँ, तो चुप रह जाना पड़ता है।

चुपचाप, बहाना लगाकर, लोगों की नज़र बचाकर जब पूरा घर छान डाला, तो मेरी नज़र बाहर के बरामदे पर रखे काठ के बड़े सन्दूक पर पड़ी। यह सन्दूक मेरे जन्म के पहले से यहाँ रखा है और मेरे होश होने पर इसे आज तक कभी खोला नहीं गया है। यद्यपि सत्य यह है कि इसमें कभी ताला नहीं लगता है, फिर भी यह खुला नहीं है। भारी-भरकम ढक्कन और मोटी, जंग लगी जंजीर। बरामदे पर यूँ ही रखा है। इस पर बब्बन सोता है। बब्बन रिक्शा चलाता है। माँ के गाँव के निकट का है। वह लगभग बारह वर्ष से इस सन्दूक पर सो रहा है। दस-ग्यारह बजे रात तक वह सोने आता है। जाड़ा, गर्मी, बरसात वह इसी सन्दूक पर सोता है। सवेरे सोकर उठने के बाद अपना ओढ़ना-बिछौना समेटकर एक ओर रख देता है और बाहर निकल जाता है। उसके बिस्तर के साथ जूँ और मैल का अद्भुत संयोग है। किसी का साहस नहीं होता कि उसे छुए और सन्दूक का ढक्कन खोले।

मुझे साहस करना पड़ा। मैंने इसे खोला। छिपकली और मकड़े की जाली। अन्धकार और दुर्गन्ध। किन्तु मुझे यह दुर्गन्ध-मय सागर मथना था। मथा। कई रत्न निकले।

मेरे पढ़ने लायक एक कॉपी निकली है; जो है, इस पर अखबार लपेटा गया है, पुराने ओल

चोट से अखबार गन्दा हो गया है। अखबार पर तिथि नहीं है, किन्तु नेताजी सुभाष बोस के भारत में होने के समय के उनके किसी भाषण का ब्यौरा है। साफ़-साफ़ पढ़ा नहीं जाता, कई जगह दीमक के कारण अखबार ग़ायब है।

कॉपी के ऊपर कोई लिखावट नहीं है। अखबार भी बहुत अजीब ढंग से लपेटा गया है। कॉपी के प्रथम पृष्ठ पर सुन्दर और कलात्मक अक्षरों में लिखा है—

सात रंग सूरज में डोले,
सागर का मुख काला,
मटमैली चाँदनी चाँद में
सागर है मतवाला।
खोले कौन रहस्य प्यार का ?
पथ अनजाना रहा धार का।

इस कविता के बाद तीन-चार फूल बनाये गए थे। ये फूल सिर्फ़ फूल थे। आकृतियों के बल पर इन्हें कोई खास संज्ञा नहीं दी जा सकती। काली और लाल स्याही का व्यवहार किया गया था। फिर कलात्मक अक्षरों का प्रयोग था।

चित्रा उर्फ़ वर्नवाल के लिए···

इसके नीचे पिताजी का नाम था। शायद उनके हाथ की ही लिखावट थी। यद्यपि आज की लिखावट और उस लिखावट में आकाश-ज़मीन का फ़र्क है, किन्तु यह अन्दाज़ सहज ही लग गया कि ये अक्षर पिताजी के हाथ के हैं।

इस कॉपी में और कोई खास बात नहीं है। द्विज, प्रसाद, पंत, महादेवी की कविताएँ हैं। छायावादी युग की उदीयमान

प्रेम-व्यंजना के नमूने। फूल, नदी, सांझ, चाँदनी, छाया, उदासी, याद, प्राण, प्रिय आदि डेढ़-दो दर्जन शब्दों के उलट-फेर की भावुक और नाबालिग व्यंजना। प्रेम-निवेदन। प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण। लेकिन लगता है, इस हल्के स्तर पर मेरा सोचना सही नहीं है। आज मेरे लिए ये कविताएँ जिस हल्के स्तर का बोध कराती हैं, जिन दिनों इस कॉपी पर नोट की गईं—वैसी नहीं होंगी।

यह कॉपी मेरे लिए बुझौवल बन गई। पिताजी को कविता से शौक! असाहित्यिक ग्रेजुएट। डिप्टी मजिस्ट्रेट। कभी साहित्य छूते हुए नहीं देखा। फिर यह चित्रा वर्नवाल कौन है? मैंने घंटों इस बात पर विचार किया।

इस सिलसिले में एक औपन्यासिक घटना का संयोग हुआ। मेरे क्लास में एक लड़की पढ़ती है। नन्दिता वर्नवाल। मेरे सिर पर वर्नवाल का भूत सवार था। सोचा, शायद वह लड़की जानती हो। इस सम्भावना ने मुझे इतना झकझोरा कि मैंने नन्दिता जैसी रिज़र्व रहनेवाली लड़की से एक दिन इस विषय में सवाल कर दिया।

—चित्रा वर्नवाल! आप कैसे जानते हैं यह नाम? क्यों पूछ रहे हैं?

—बस यूं ही! एक पुराने सज्जन ने एक दिन बाई-द-वे नाम लिया था। वर्नवाल सुनकर सोचा आपसे पूछूं।

—वह मेरी माँ हैं। बोलिए, क्या पूछना है?

—पूछना क्या रहेगा? मैंने अभी आपको बतलाया न, एक सज्जन अपने कॉलेज के दिनों की चर्चा कर रहे थे।

उन्होंने चित्रा वर्नवाल का नाम लिया। वह सज्जन अपने को साहित्यिक बतला रहे थे और कह रहे थे कि लाख पढ़कर इम्तहान में बैठता, मगर चित्रा नाम की एक लड़की थी, जो ज़्यादा नम्बर ले जाती थी।

—हाँ, पढ़ने में वह बहुत तेज़ थीं, मगर दुर्भाग्य कि ग्रेजुएट नहीं हो सकीं। फ़ाइनल ईयर में थीं कि शादी कर दी गई और फिर उनकी पढ़ाई सदा के लिए छूट गई। लेकिन साहित्य से उन्हें अभी भी प्रेम है। दिन-रात पुस्तकों में खोई रहती हैं। उन्होंने ख़ुद एक कविता-पुस्तक लिखी है।

—किस प्रकाशन से किताब निकली है? मैं उनकी कविताएँ पढ़ना चाहूँगा।

—उन्होंने ख़ुद प्रकाशित कराया था। सारी किताबें बाँट दी गईं। अलमारी में एकाध प्रति ज़रूर होगी। मैं कल लेती आऊँगी।

चित्रा वर्नवाल। कवयित्री। यह सब क्या है? मैं जैसे-जैसे नाग की ओर बढ़ते जा रहा हूँ, मुझमें एक गतिशील प्राणी का उल्लास भरता जा रहा है। मैं जानता हूँ कि इस यात्रा की इति जहाँ होगी, वहाँ मेरे इन्तज़ार में बैठा, फन निकाले, डंस मारने को उत्सुक तक्षक मिलेगा। मेरी हालत पोस्टमार्टम करने वाले डॉक्टर जैसी है। डॉक्टर जानता है कि उसकी टेबुल पर जो प्राणी है, वह मुर्दा है; वह सिर्फ़ मुर्दा होने के कारणों को जानने के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है। अपनी मृत्यु की प्रक्रियाओं से ज्ञाता बनने को मेरी चेतना उग्र हो रही है। मैं शमन नहीं कर पाऊँगा।

मुझे चित्रा वर्नवाल की पुस्तक मिलती है—'आरती की

लौ'। साधारण कागज पर औसत छपाई। दुरंगा कवर। एक चिराग, जिसकी लौ काँप रही है, नारी-हाथों में अवस्थित है। नारी के मेंहदी-लगे हाथ नृत्य-मुद्रा में लय का संकेत करते हैं। आस-पास कुछ फूल बिखरे हैं। पुस्तक के पहले पन्ने पर पुस्तक और लेखिका का नाम है। दूसरे पन्ने पर आकर मेरी आँखें शापित अहिल्या की तरह पत्थर हो जाती हैं। बड़े-बड़े अक्षरों में समर्पण लिखा है, नीचे है 'सात रंग सूरज में डोले' वाली कविता। यह एक ही कविता दो जगह क्यों है ? दोनों जगह समर्पण की पंक्तियाँ ही क्यों बनायी गई हैं ? मैं चाहता हूँ, इन पंक्तियों के ज़रिये कुछ अर्थ अर्जित करूँ। किन्तु अर्थ कहाँ मिलेगा ! अंकित शब्दों के अर्थ अंकित नहीं होते। शब्द संकेत है। संकेत ग्रहणशीलता का आभारी है। जिसकी जैसी ग्रहणशीलता है, वह वैसा ही संकेत ग्रहण करता है। प्रत्येक संकेत के साथ देश, काल और पात्र का सम्बन्ध होता है। मैं एक पात्र हूँ, जिसके लिए उक्त पंक्तियों के संकेत-ग्रहण के समय अज्ञात देश और अछोर काल है। मैं क्या संकेत ग्रहण करूँ ?...

मैं इस विषय में माँ की मदद लेना चाहता हूँ। पिताजी के सामने उसे उपस्थित नहीं किया जा सकता। यह उनका इतिहास है। प्रत्येक इतिहास इतिहास-रस से पूर्ण होता है। नीरस इतिहास नहीं होता। इतिहास-द्रष्टा और इतिहास-स्रष्टा का अलग-अलग रस होता है। एक-दूसरे को यह रस-बोध सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। पिताजी इतिहास-स्रष्टा हैं। इसलिए मेरे काम में वह मदद नहीं कर सकेंगे। अक्षम हैं। मैं उनके हाथों में कॉपी दूंगा और वह दयनीय हो जाएँगे। मुझे दुःख होगा।

उन्होंने चित्रा वर्नवाल का नाम लिया। वह सज्जन अपने को साहित्यिक बतला रहे थे और कह रहे थे कि लाख पढ़कर इम्तहान में बैठता, मगर चित्रा नाम की एक लड़की थी, जो ज़्यादा नम्बर ले जाती थी।

—हाँ, पढ़ने में वह बहुत तेज़ थीं, मगर दुर्भाग्य कि ग्रेजुएट नहीं हो सकीं। फ़ाइनल ईयर में थीं कि शादी कर दी गई और फिर उनकी पढ़ाई सदा के लिए छूट गई। लेकिन साहित्य से उन्हें अभी भी प्रेम है। दिन-रात पुस्तकों में खोई रहती हैं। उन्होंने खुद एक कविता-पुस्तक लिखी है।

—किस प्रकाशन से किताब निकली है? मैं उनकी कविताएँ पढ़ना चाहूँगा।

—उन्होंने खुद प्रकाशित कराया था। सारी किताबें बाँट दी गईं। अलमारी में एकाध प्रति ज़रूर होगी। मैं कल लेती आऊँगी।

चित्रा वर्नवाल। कवयित्री। यह सब क्या है? मैं जैसे-जैसे नाग की ओर बढ़ते जा रहा हूँ, मुझमें एक गतिशील प्राणी का उल्लास भरता जा रहा है। मैं जानता हूँ कि इस यात्रा की इति जहाँ होगी, वहाँ मेरे इन्तज़ार में बैठा, फन निकाले, डंस मारने को उत्सुक तक्षक मिलेगा। मेरी हालत पोस्टमार्टम करने वाले डॉक्टर जैसी है। डॉक्टर जानता है कि उसकी टेबुल पर जो प्राणी है, वह मुर्दा है; वह सिर्फ़ मुर्दा होने के कारणों को जानने के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है। अपनी मृत्यु की प्रक्रियाओं से ज्ञाता बनने को मेरी चेतना उग्र हो रही है। मैं शमन नहीं कर पाऊँगा।

मुझे चित्रा वर्नवाल की पुस्तक मिलती है—'आरती की

ली'। साधारण काग़ज़ पर औसत छपाई। दुरंगा कवर। एक चिराग, जिसकी लौ काँप रही है, नारी-हाथों में अवस्थित है। नारी के मेंहदी-लगे हाथ नृत्य-मुद्रा में लय का संकेत करते हैं। आस-पास कुछ फूल बिखरे हैं। पुस्तक के पहले पन्ने पर पुस्तक और लेखिका का नाम है। दूसरे पन्ने पर आकर मेरी आँखें शापित अहिल्या की तरह पत्थर हो जाती हैं। बड़े-बड़े अक्षरों में समर्पण लिखा है, नीचे है 'सात रंग सूरज में डोले' वाली कविता। यह एक ही कविता दो जगह क्यों है ? दोनों जगह समर्पण की पंक्तियाँ ही क्यों बनायी गई हैं ? मैं चाहता हूँ, इन पंक्तियों के ज़रिये कुछ अर्थ अर्जित करूँ। किन्तु अर्थ कहाँ मिलेगा ! अंकित शब्दों के अर्थ अंकित नहीं होते। शब्द संकेत है। संकेत ग्रहणशीलता का आभारी है। जिसकी जैसी ग्रहणशीलता है, वह वैसा ही संकेत ग्रहण करता है। प्रत्येक संकेत के साथ देश, काल और पात्र का सम्बन्ध होता है। मैं एक पात्र हूँ, जिसके लिए उक्त पंक्तियों के संकेत-ग्रहण के समय अज्ञात देश और अछोर काल है। मैं क्या संकेत ग्रहण करूँ ?...

मैं इस विषय में माँ की मदद लेना चाहता हूँ। पिताजी के सामने उसे उपस्थित नहीं किया जा सकता। यह उनका इतिहास है। प्रत्येक इतिहास इतिहास-रस से पूर्ण होता है। नीरस इतिहास नहीं होता। इतिहास-द्रष्टा और इतिहास-स्रष्टा का अलग-अलग रस होता है। एक-दूसरे को यह रस-बोध सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। पिताजी इतिहास-स्रष्टा हैं। इसलिए मेरे काम में वह मदद नहीं कर सकेंगे। अक्षम हैं। मैं उनके हाथों में कॉपी दूंगा और वह दयनीय हो जाएँगे। मुझे दुःख होगा।

माँ से मदद ली जा सकती है। वह इतिहास-द्रष्टा हैं। उन्होंने शायद इस कॉपी को जाना हो। शायद नहीं जाना हो। अगर जानती हों, तो गम्भीरतापूर्वक सुलग उठेंगी। भूसे की आग की तरह भीतर-ही-भीतर सुलग-सुलगकर जलेंगी, मगर कुछ बोलेंगी नहीं। नहीं जानती हों, तो कॉपी देखकर पेट्रोल की तरह भड़क-कर जल उठेंगी। दोनों अर्थों में मुझे कुछ हाथ नहीं लगेगा।

मैंने इस बात पर गम्भीरतापूर्वक सोचा। कापी-सम्बन्धी बातों की अधिक जानकारी कौन दे सकता है! मैंने नन्दिता की माँ से मिलने का विचार किया।

मेरा एक मित्र है—प्रभास। कवि है। एक कविता-पत्रिका निकालने की बात सोच रहा है—'मन'। इस पत्रिका का परिचय-पत्र और लेटर पैड बना चुका है। मैंने एक परिचय-पत्र और एक लेटरपैड का पन्ना लिया। चुपचाप रचना भेजने के अनुरोध के साथ पत्र लिखा। लिफ़ाफ़ा में बन्द किया और चल पड़ा।

श्रीमती चित्रा बर्नवाल सामने आईं। ड्राइंग-रूम में और भी एक व्यक्ति था। उन्हीं का कोई सम्बन्धी। मैं उन्हें देखता रहा। गोरी, लम्बी, शान्त, गम्भीर। मैंने पत्र दिया। पत्र पढ़कर वह उदास हो गईं। कविता? जैसे पहाड़ की तराइयों में कभी हँसी हों और उस हँसी की प्रतिध्वनि आज, वर्षों बाद, अपने मकान में सुनाई पड़ी। ऐसी स्थिति उदासी और गम्भीरता की होती है।

—आपको किसने कहा कि मैं कविता करती हूँ?

—नन्दिता ने।

—उसे आप जानते हैं?

—मैं उनके साथ पढ़ता हूँ। मैंने नन्दिता से माँगकर आपकी पुस्तक 'आरती की लौ' पढ़ी है।

अपनी पुस्तक की चर्चा सुनने के बाद उसके मन पर कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। हाँ, नन्दिता के सहपाठी होने की बात सुनकर उनके चेहरे से उदासी दूर हो गई, और तनाव की रेखाएँ मिट गईं और एक सरलता उभर आई।

—देखो भई, तुम···

—मेरा नाम सुकुमार है।

—बहुत होशियार हो! मैं नाम ही पूछना चाह रही थी। नन्दिता अभी घर में नहीं है। मामा के साथ बाहर गई है। कविता-उविता की बातें छोड़ो। वे सब गए ज़माने की बातें हैं। तुम पहले कुछ खाओ···

उन्होंने नौकर को बुलाया। जलपान लाने को कहा। फिर पढ़ने-लिखने की बातें करने लगीं। इसी बीच जलपान आया—तीन-चार मिठाइयाँ मैंने खाईं।

उनकी आँखों में अब एक माँ की आत्मा झाँक रही थी। माँ आकाश है। उसकी माप क्या सम्भव है? जो मापने गया—खो गया। मैं उठकर जाने की बात सोचने लगा। तभी उन्होंने मुझे पूछा—तुम पटना के रहने वाले हो?

—जी हाँ, होमियोपैथी कालेज के बगल में रहता हूँ।

—पिताजी क्या करते हैं?

—डिप्टी मजिस्ट्रेट हैं।

बात खत्म हो गई। जाने के पहले मैंने एक बार और अनुरोध किया। अगर कविता लिखकर नहीं दे सकतीं तो क

'आरती की लौ' पर ही कुछ लिखकर दीजिए। क्यों लिखा ? कैसे लिखा ?

मुस्कराकर उन्होंने कहा—कोशिश करूँगी।

—कब आऊँ ?

—डेट नहीं दे सकती, लिखने पर कहा जा सकता है।

—मैं पाँच-सात दिन में फिर एक बार दर्शन को आऊँगा। वैसे आप कहिए तो मैं अपना पता दे दूँ। अगर पहले लिखा जाए, तो नौकर की मार्फत भेज दें।

—ठीक है, पता दे दो।

मेरे पास काग़ज़ नहीं था। उन्होंने एक काग़ज़ ला दिया। काग़ज़ पर मैंने लिखा—

सुकुमार,
मार्फ़त श्री शिवनाथ चौधरी,
डिप्टी मजिस्ट्रेट,
सिन्धु साह लेन, होमियोपैथी कालेज के पीछे।
कदमकुआँ।

पुर्ज़ा उन्होंने ले लिया। पढ़ा नहीं। मैंने उनसे कहा—मेरा घर···और बीच में ही उठकर थूक फेंकने बाहर चला गया। थूक फेंककर भीतर आया, तो उनकी नज़र पुर्ज़े पर थी। मेरे आने पर उन्होंने नज़र उठाई। ये आँखें बदली हुई थीं। माँ की आँखें ऐसी नहीं होती हैं। माँ की आँखें करुणा और ममतामयी होती हैं, जिनमें ज़िन्दगी का एक हिल्लोल, एक आदेश छिपा होता है। अभी-अभी मेरे सामने जो आँखें हैं, उन आँखों में करुणा है, वेदना है। इन आँखों से सर्दी निकल रही है, जिससे ज़िन्दगी सिमटती

है, खामोश होती है। पेड़ लगाने के लिए कोड़े गए गड्ढे और कब्र के लिए कोड़े गए गड्ढे में फ़र्क होता है।

—तुम जा रहे हो ?

मैं उठकर खड़ा हुआ। प्रणाम किया। बाहर चला आया। किन्तु बाहर आने के बाद, अभी तक मुझे लग रहा है कि मैंने कब्र के लिए बनाये गए गड्ढे की मिट्टी छू ली है। इस मिट्टी में मौत और सन्नाटे की सर्दी थी, जो मेरी अँगुलियों के ज़रिये मेरे शरीर में भर जाना चाहती है।

मैं कब्र में दफ़नाई जानेवाली लाश देखना चाहता हूँ। मुझे एहसास हो रहा है, मगर देख नहीं पाता। श्रीमती चित्रा बर्नवाल की आँखों में शायद वह लाश थी। शायद विभ्रम था। मैं उन आँखों की रेटिनाओं के कन्धे पर किसी मुर्दा ढोनेवाले ताबूत को देख नहीं पाया। पपनियों से टकराती मर्सिया की गूँज मेरे मन तक आई।

मैं अहाते को पारकर शहर के रास्ते पर आ गया हूँ। रास्ते पर ज़िन्दगी चल-फिर रही है।

मैं अपनी माँ की आँखें देखना चाहता हूँ।

दस

मेरी माँ की आँखों में बाघिन-जैसी जंगली आक्रोश की आग लहक उठी है।

उन्होंने पुरानी कापी को रद्दी काग़ज़ समझा। हाथ

कर कमरे से बाहर फेंकना चाहा, किन्तु अचानक उनके हाथ रुक गए। उसने कवर उलटा कर देखा। प्रथम पृष्ठ पर ही नज़र अड़ गई। फिर आँखों में अंगारे दहक उठे। उनके हाथ काँप गए। उन्होंने पान बनाना छोड़ दिया। चुपचाप कापी के साथ उठ गईं।

यह सब मेरी योजना के अनुसार हुआ। कालेज में मेरा पहला पीरियड ऑफ़ था। घर के तमाम लोग खाना खाकर अपने काम पर चले गये थे। माँ सबके अन्त में खाना खाती हैं। वे खाना खा रही थीं। मैं भीतर वाले कमरे में था। सहसा मुझे कापी पर माँ की प्रतिक्रिया जानने की बात खयाल पड़ी। मैं चुपचाप उठा और अपनी पढ़ाई की टेबुल के दराज़ में छिपाकर रखी हुई कापी निकाल लाया। मैं जानता हूँ कि खाना खाने के बाद माँ नियमित रूप से पान खाती हैं। माँ ने पनबट्टे पर, जो कमरे के दूसरे छोर में रखी अलमारी के निकट रखा रहता है, उस कापी को ले जाकर रख दिया।

कापी रखकर मैं रेडियो की दूसरी तरफ़ खाली चौकी पर एक तकिया लगाकर लेट रहा। मैं सोया नहीं था, सोने का बहाना किये हुए था। कालेज जाने के मामले में मुझको घर के लोग तकाज़ा नहीं करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से, अपने उत्तम परीक्षा-पल की वजह से, मैं ज़िम्मेवार विद्यार्थी समझा जाता हूँ। सो, खाना खाने के बाद माँ जब कमरे में आईं तो उन्होंने मेरे सोये रहने पर खयाल नहीं किया।

वे सीधी अलमारी के निकट गईं। पान लगाने बैठीं। पनबट्टे पर धूल-झोल लगी कापी रखी थी। पहले उन्होंने उठाकर

फेंक देना चाहा, पर उल्टाकर देखने के साथ उनकी आँखें लाल होकर दहक उठीं और वे कापी के साथ उठ गईं।

माँ कापी के साथ भानस-घर गईं। भानस-घर मेरी आँखों से ओझल था। मैं जान नहीं पाया कि वे भानस-घर क्यों गईं।

लगभग दस मिनट बाद वे पुनः कमरे में वापस आईं। इस समय उनके चेहरे पर अजीब किस्म का तनाव था, जैसे वे कोई बहुत ही क्रूर कर्म करके आई हों। जैसे किसी की हत्या कर आई हों। लेकिन इस तनाव में भी एक किस्म का सन्तोष महसूस हो रहा था। वे कुछ देर तक कमरे में खड़ी रहीं। फिर मेरी ओर बढ़ीं। मैंने अपनी आँखों पर बाँह डाल रखी थी, जिसके नीचे से देख रहा था। उन्हें निकट आते देखा, तो मैंने आँखें मीच लीं।

वे मेरे सिरहाने आकर बैठ रहीं, फिर धीरे-धीरे उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा। एक पल मेरे बालों को सहलाया। उनकी अँगुलियाँ रुक गईं। मेरे सिर पर रखी रहीं। फिर थोड़ी देर बाद उठीं और पनघट्टे की ओर चली गईं, तो मैंने उन्हें देखा। इस समय उनके चेहरे पर वैसी ही सन्तोष-भरी हँसी थी, जैसी हँसी किसुन बाबा को गंगा में मंसाकर उनकी होंठों पर उगी थी।

मेरे मन में एक विचार आया। मैंने करवट बदली और नींद टूटने का बहाना किया। फिर बिस्तर से उठा और पानी पीने के बहाने भानस-घर से गिलास लेने गया। मेरा अनुभव सही था। पिताजी की कविता वाली कापी चूल्हे में जलकर राख बन गई थी और धुएँ का आखिरी स्रोत फेंककर सर्द पड़ती जा रही थी।

इस सर्द धुएँ से मुझे दुःख होना चाहिए था। अँधेरे में पली, अनजानी, सुगन्धों भरी एक लाजवन्ती लता थी, जिसे [illegible]हिंसा

बनैले सूअर ने पैरों से रौंदा और रौंदी हुई लता की छिन्न-भिन्न टहनियों को आग में झोंक दिया गया। यह एक मर्मान्तक घटना हुई।

लेकिन मैं दुखी होने की बजाय खुश हूँ। खुश हूँ, क्योंकि मैंने जो सोचा था, वह सही निकला। क्योंकि मैंने जो जानना चाहा था, उसका एक आंशिक संकेत मुझे मिला है। मेरे अनुमान का पहला प्रयोग सफल हुआ। यह एक ऐसा सुख है, जिसका उपभोग कोई विरल मनुष्य ही कर पाता है। नदी में डूबकर किसी का बेटा मर गया है। बाप लाश को खोजता है। काफ़ी खोज-ढूंढ के बाद बेटे की लाश मिलती है। लाश मिलने पर सन्तोष और तृप्ति का एक अपूर्व-स्वाद-सुख होता है। ऐसे प्रसंगों के लिए सुख शब्द का व्यवहार वांछनीय नहीं होता, किन्तु सत्य हमेशा वांछनीय ही होता है क्या ?

मैं आकर चौकी पर बैठ रहा। अनमना-सा। कुछ देर पहले तक मेरा दिमाग़ एक सुनिश्चित दिशा में काम कर रहा था। मैं उस कापी की संवेदना से अपरिचित होकर अपने कार्य के विष में सोच रहा था। कविता की या कविता-सम्बन्धी उस मास और बिसरी हुई कथा का कोई संकेत मेरे मन पर नहीं था, हम डिसेक्टिंग टेबुल पर शरीर-विज्ञान सीखते समय किसी मे के शरीर पर छुरी चलाते हैं और उसकी शिराओं को, अंगों 'ज्ञान' की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु उस मेंढक की एक जि है, परिवार है, जीने की उमंग है, जिसे खत्म किया ज है—ऐसा नहीं सोचते। अगर छुरी चलाते समय एक लिए भी ऐसा विचार आ जाए ! शायद शरीर-विज्ञ

जिज्ञासा और प्राणी की जीवनेच्छा में पल-भर संघर्ष हो। शायद एक पल दिमाग में शून्य की स्थिति आ जाए। वैसी ही अवस्था मेरी हुई। लेकिन मन की इन कमज़ोरियों से मैं परिचित हूँ। परिचित हूँ, इसलिए इन पर विजय पाना जानता हूँ। मेरा कार्यक्रम निश्चित है।

मैं कमरे से बाहर निकल आता हूँ। मेरी नज़र बाहर वाले बरामदे पर रखे सन्दूक पर पड़ती है। चेहरे पर एक मुस्कान खेल जाती है। मैं धीरे-धीरे बरामदे के दक्षिणी छोर पर स्थित कमरे में जाता हूँ।

यह कमरा मेरी पढ़ाई का है। यहाँ मेरी किताबें कापियाँ और लिखने का सामान रहता है। लोगों को हिदायत है कि यहाँ हमेशा न आयें। बच्चों का आना एकदम मना है। दीवाल में एक छोटी-सी अलमारी बनी है, जिसमें काठ के पल्ले हैं और जिसकी चाबी मैं हमेशा अपने साथ रखता हूँ। इस अलमारी में मेरी ज़रूरी चीज़ें रहती हैं।

कमरे के भीतर आकर मैंने दरवाज़े को भीतर से बन्द कर लिया। अलमारी खोली। सबसे निचले दराज़ में दो पुराने और धूल-भरे कार्ड रखे थे। मैंने इन्हें एक पल देखा—उस निगाह से, शायद जिस निगाह से हिरोशिमा पर गिराए जानेवाले बम को उसके भण्डारी वैज्ञानिक ने भण्डार से निकालते समय देखा होगा। एक शक्तिशाली हथियार, जिसके प्रयोग से एक वैज्ञानिक सत्य का जन्म होगा। किन्तु इस परीक्षण में जो ध्वंस छिपा है, उसकी भी आहट आ रही है।

मैं जानता हूँ कि इन पोस्टकार्डों का प्रयोग मैं जहाँ करूँगा,

हाँ प्रतिक्रिया होगी, मेरे वांछित सत्य का उद्‌घाटन होगा,
किन्तु ये कार्ड सदा-सदा के लिए मेरे हाथों से चले जाएँगे।
अपनी डायरी निकालकर इन कार्डों की कापी करता हूँ।

भागलपुर, मंसूरगंज
४-७-१९४१।

प्रिय शिवनाथ वावू,

मैं भागलपुर आ गया हूँ। यहीं रहने का विचार है। आशा
है, आप अच्छी तरह होंगे। भगवान् आपका मंगल करे।
मेरा पता नीचे है। मुनासिव समझें तो अपना कुशल-
समाचार भेजा करें।

आपका
वीरू

मेरा पता—
धीरू पटेल
c/o लाल खाँ,
मंसूरगंज (चौकी से पूरव)
भागलपुर

दूसरे कार्ड में पहले की तरह स्थान और तिथि का उल्ले
था। यह पत्र वीस दिन वाद लिखा गया था। लिखावट दो
की एक तरह, मुश्किल से हिन्दी लिख सकने वाले हाथों
लिखावट।

प्रिय शिवनाथ वावू

यह जानकर खुशी हुई कि आप कुशलपूर्वक हैं। मैंने ड्रा
का धन्धा सदा के लिए छोड़ दिया। चाय की दूकान कर

सोच रहा हूँ। आप जब चाहते हैं कि मैं पत्र नहीं लिखूँ, तो नहीं लिखूँगा। भगवान् आपका मंगल करें।

आपका
धीरू पटेल

डायरी पर लिखते समय मैंने कुछ भी नहीं समझा कि पत्र में क्या लिखा है। सिर्फ़ लिखता गया। बाद में पढ़ा। किन्तु पत्र पढ़ने से जितना अर्थ समझ में आया, मेरा ध्यान उस तरफ़ नहीं था।

डायरी को अलमारी में बन्द किया। दोनों कार्डों को लिया और कमरा खोलकर बाहर निकला। मेरी आँखें सन्दूक पर पड़ीं। लगा जैसे सन्दूक आज कुछ अधिक बूढ़ा और उदास लग रहा है।

मैं सीधा भीतर वाले कमरे में गया। माँ कुर्सी पर बैठी थीं। मौन। जैसे किसी बात को गम्भीरतापूर्वक सोच रही हैं। ऐसी अवस्था में वे प्रायः कम ही रहती हैं। किसी भी समय उन्हें प्रतिक्रिया के खुले रूप में देखा जा सकता है। खुश या उदास या क्रोधित या अन्य किसी भाव में। निर्लिप्त और तटस्थ भावों में उन्हें शायद कभी ही देखा जा सकता है। मैं इन सारी बातों को सोचने के लिए नहीं रुका। मैं सीधा उनके निकट गया। पोस्टकार्डों को उनकी तरफ़ बढ़ाया।

—माँ! यह धीरू पटेल कौन है?

माँ जैसे चौंक उठीं। जैसे उनकी कुर्सी लोहे की है, जिसमें बिजली की धारा का लगाव है, जिसका स्विच ऑफ़ था और अभी अचानक किसी ने एक पल के लिए स्विच को ऑन [illegible]

फिर ऑफ़ कर दिया।

—धीरू पटेल ?

—हाँ, देखो न, ये पत्र हैं।

माँ कुछ बोलना चाहती थीं, किन्तु पत्रों को सामने देखकर बोलना रुक गया। लाख दबाने पर भी मन की चंचलता प्रकट हो जाती है। माँ ने पत्र को पढ़ना शुरू किया। उन्हें छपा हुआ काग़ज़ पढ़ने में भी अधिक समय लगता है। यह तो वर्षों पुरानी हाथ की लिखावट थी। काफ़ी देर में दोनों पत्रों को पढ़ा। इतनी देर में उन्होंने अपने को संयमित कर लिया।

—यह तुम्हें कहाँ मिला ?

—बाहर वाले सन्दूक में।

—तुमने खोला था ?

—हाँ। पुराने अख़बारों को रखने के लिए खोला था।

माँ चुप हो गईं। मेरा प्रश्न कि धीरू पटेल कौन है, अनुत्तरित रह गया। अब दुबारा पूछना जान-बूझकर अशोभन वातावरण का सृजन करना था। मैं कुछ देर तक वहाँ रुका, शायद माँ अब कुछ बोले। किन्तु मेरी उम्मीद सार्थक नहीं हुई।

मैं धीरे-धीरे कमरे से बाहर निकल गया। बाहर वाले कमरे में गया। माँ के विषय में सोचने लगा। पत्र पढ़कर इस तरह चौंक क्यों गईं ? अपने बच्चों की, चाहे वे सयाने ही क्यों न हों, जिज्ञासा का इस तरह दमन क्या उचित है ? क्या माँ की इस चुप्पी ने मेरी जिज्ञासा को और अधिक उत्तेजित नहीं कर दिया ?

मैं करीब एक घंटा इसी प्रकार ऊल-जलूल सोचता रहा, फिर लगा कि इस कमरे की हवा अधिक गम्भीर और गरम हो

गई है। मुझे यहाँ से बाहर निकल जाना चाहिए। मेरे कालेज जाने का भी समय हो गया है।

मैं भीतर वाले कमरे में गया। माँ वहाँ नहीं थीं। माँ के न रहने पर मन में स्वाभाविक जिज्ञासा हुई। उनके रहने पर शायद मैं कुछ भी नहीं सोचता और चुपचाप कपड़े बदल कर कालेज चला जाता। मैंने मकान के शेष अन्य चार कमरों में देखा। माँ नहीं थीं। मेरी जिज्ञासा और बलवती हुई।

मेरे पैर अनायास ही छत पर बढ़ गए। छत पर एक कमरा आधा बनने की स्थिति में है। उसमें एक खाट, एक टेबुल और दो कुर्सियाँ रखी हैं। मधु यहाँ पढ़ती है। खाली समय में जिस किसी का मन हुआ, यहाँ आ गया।

छत वाले कमरे की किवाड़ भिड़कायी हुई थी। मैंने दबे पाँव भीतर झाँका। माँ खाली खाट पर सोई थीं। खर्राटे ले रही थीं। बगल में टेबुल था। टेबुल पर और उसी के निकट फ़र्श पर उन पुराने पोस्टकार्डों के टुकड़े बेतरतीबी से बिखरे थे। मैंने माँ के चेहरे पर ध्यान दिया, वे प्रफुल्ल मुद्रा में सोई हुई थीं, जैसी उनकी आदत है।

जैसे कुछ हुआ ही नहीं। निरर्थक पोस्टकार्ड थे। जिन्हें फाड़कर फेंक दिया गया। कोई प्रतिक्रिया नहीं। बिखरे-बिखरे होंठ, उठती-गिरती साँसें, तृप्ति के भाव···

मैं जिस तरह दबे पाँव छत पर आया था, उसी तरह [illegible] उतर आया। पुस्तकों के साथ बाहर निकला। बरामदे [illegible] सीढ़ी छोड़कर जब मैं गली में आया तो बिन्नो [illegible] पर नजर पड़ी। उसका बाहर वाला दरवाज़ [illegible]

र काइयों-भरी दीवार सूनी थी। मुझे लगा कि यह मकान
न्नो फुआ से भी सैकड़ों वर्ष पुराना है और पोपला मुँह खोल-
र मुझ पर हँसना चाहता है। इसी बरामदे पर खड़ी होकर
विन्नो फुआ ने माँ से झगड़ा किया था।

मैंने अपनी आँखें नीची कर लीं और गली में आगे बढ़ गया।
पत्थर की गली मुझे बहते हुए पानी की तरह लगी।

सावन में एक बार बहुत ज्यादा पानी बरसा था। गली
पानी से भर गई थी। घूमते-घामते जयन्त आ गया था।

मैं बाहर वाले कमरे में बन्द होकर कुछ लिख रहा था।
जयन्त के आने की आहट मात्र सुनी थी। उसका आना रोज़मर्रा
की दाल-रोटी है। क्या खयाल किया जाए। थोड़ी देर बाद
बच्चों के क़हक़हे और जयन्त की ज़ोरदार आवाज़ सुनी—चली
रे, चली रे, मेरी नाव चली रे।

मैं बाहर निकला। जयन्त, मधु, मिहिर आदि थे। जयन्त
ने एक छोटी-सी कागज की नाव बनाई थी। उसे बहते पानी
प्रवाहित किया जा रहा था।

मैं बाहर निकला तो सब और ज़ोर से चिल्ला पड़े—च
रे, चली रे!

मैंने दोस्ताना बुजुर्गी के लहजे में कहा—जयन्त, तुम
ए० कर गए, मगर उल्लू के उल्लू ही रह गए। क्या त
खड़ा किया है!

उसने नाटकीय गम्भीरता से कहा था—तुम चिढ़ते क्य
जरा नौकरी पकड़ने दो, इस गली में मोटर-बोट दौड़
तब तक इस गली में इतना पानी भी ज़रूर हो जाएगा।

ग्यारह

मेरे सामने गंगा की विस्तृत धारा है। अनादि काल से बहने वाली गंगा—अनन्त उर्मियोंवाली धारा। यहाँ की हवा शीतल है। मन-प्राणों को शीतलता मिलती है।

मेरा क्लास समाप्त हो गया है। आज मेरा मन क्लास में ज़रा भी नहीं लगा। नन्दिता को देखता रहा। कविताओं की कापी के विषय में सोचता रहा।

तमाम घण्टियों में एक ही विचार। यह सब क्या है? ऐसा क्यों है? इतिहास को सही नहीं किया जा सकता? उस पर महाकाल का हस्ताक्षर होता है। इतिहास का निष्कर्ष बोझिल होता है। इसकी प्रक्रिया जीवन्त होती है। लेकिन उस प्रक्रिया को जानना दुरूह होता है।

घण्टियाँ समाप्त हो गई हैं। मैं गंगा के कगार पर आ बैठा हूँ। अकेला।

यह कगार ईंटों से बाँध दिया गया है। बीच धारा में एक छोटी-सी नाव जा रही है। सूरज की ढलती किरणों में दूसरी तरफ़ का किनारा, टूटती, पुरानी, काली दीवार की तरह दिखलाई देता है। काँपती लहरों पर दीवार की छाया जैसे काँप रही है।

मैं सोचता हूँ और सोचता हूँ। चित्रा वर्नवाल, पिता-श्री, माँ, धीरू पटेल, जैसे ये चारों मिलकर एक चतुर्भुज बनते हैं। बीच में मैं कैदी हूँ। निस्तार नहीं। कोई रास्ता नहीं।

ये चारों लकीरें अलग-अलग अर्थहीन हैं। इस अर्थ में कि

मैं सिर्फ़ बन्दी बन जाता हूँ। क्यों, कैसे, कब—कोई उत्तर नहीं है। इसलिए मैं इन्हें अर्थहीन कहता हूँ।

किन्तु इन चारों को अगर चतुर्भुज न रहने दिया जाय? इन चारों लकीरों को अलग-अलग कर फेंक दिया जाए। गड्ड-मड्ड स्थिति। और ज्यामिति के खेल खेले जाएँ तो···

मेरे एक दोस्त ने एक बार छः पहल वाले दो प्लास्टिक के टुकड़े दिये थे। इनसे पिरामिड बनाओ। लगभग एक घण्टा मैंने मेहनत की। प्रत्येक कोण की आज़माइश की, मगर पिरामिड नहीं बना। मेरे दोस्त ने चुटकी बजाते बना दिया। इन लकीरों से भी अगर वैसा ही कोई पिरामिड बन जाए, जहाँ मैं इतिहास की किसी प्राणवन्त घटना का ममी पा सकूँ।···

गंगा की लहरों पर मेरी दृष्टि धूमिल होती जा रही है। इस धूमिलता में चन्द उभरती हुई आकृतियों को देख रहा हूँ।

एक मझोले क़द का नौजवान बग़ल में पुस्तकों का पोथा दबाये जा रहा है। मैं उसके शरीर को देख रहा हूँ। मेरी जिज्ञासा होती है कि मैं इसका चेहरा देखूँ। नज़रें उठाता हूँ, तो धूमिलता अँधेरे में बदल जाती है—ऐसा अँधेरा, जिसमें आदमी, पेड़-पौधे और मकानों की छाया मात्र दिखलाई पड़ती है। आकृति से वस्तु का बोध तो होता है, किन्तु परिचय नहीं हो पाता।

छायाकृति का नौजवान स्थिरतापूर्वक कदम उठा रहा है। सड़क सुनसान। एक मोड़ पर वह घूमता है और एक गेट पार कर छोटी-सी सड़क पर आ जाता है। यहाँ बहुत-सी आकृतियाँ हैं। वैसी ही काली, परिचयहीन आकृतियाँ। कुछ दूर आगे एक

ग्यारह

मेरे सामने गंगा की विस्तृत धारा है। अनादि काल से वहने वाली गंगा—अनन्त उर्मियोंवाली धारा। यहाँ की हवा शीतल है। मन-प्राणों को शीतलता मिलती है।

मेरा क्लास समाप्त हो गया है। आज मेरा मन क्लास में ज़रा भी नहीं लगा। नन्दिता को देखता रहा। कविताओं की कापी के विषय में सोचता रहा।

तमाम घण्टियों में एक ही विचार। यह सब क्या है? ऐसा क्यों है? इतिहास को सही नहीं किया जा सकता? उस पर महाकाल का हस्ताक्षर होता है। इतिहास का निष्कर्ष बोझिल होता है। इसकी प्रक्रिया जीवन्त होती है। लेकिन उस प्रक्रिया को जानना दुरूह होता है।

घण्टियाँ समाप्त हो गई हैं। मैं गंगा के कगार पर आ बैठा हूँ। अकेला।

यह कगार ईंटों से बाँध दिया गया है। बीच धारा में एक छोटी-सी नाव जा रही है। सूरज की ढलती किरणों में दूसरी तरफ़ का किनारा, टूटती, पुरानी, काली दीवार की तरह दिखलाई देता है। काँपती लहरों पर दीवार की छाया जैसे काँप रही है।

मैं सोचता हूँ और सोचता हूँ। चित्रा बनवाल, पिता-श्री, माँ, धीरू पटेल, जैसे ये चारों मिलकर एक चतुर्भुज बनते हैं। बीच में मैं कैदी हूँ। निस्तार नहीं। कोई रास्ता नहीं।

ये चारों लकीरें अलग-अलग अर्थहीन हैं। इस अर्थ में कि

मैं सिर्फ़ बन्दी बन जाता हूँ। क्यों, कैसे, कब—कोई उत्तर नहीं है। इसलिए मैं इन्हें अर्थहीन कहता हूँ।

किन्तु इन चारों को अगर चतुर्भुज न रहने दिया जाय? इन चारों लकीरों को अलग-अलग कर फेंक दिया जाए। गड्ड-मड्ड स्थिति। और ज्यामिति के खेल खेले जाएँ तो···

मेरे एक दोस्त ने एक बार छः पहल वाले दो प्लास्टिक के टुकड़े दिये थे। इनसे पिरामिड बनाओ। लगभग एक घण्टा मैंने मेहनत की। प्रत्येक कोण की आज़माइश की, मगर पिरामिड नहीं बना। मेरे दोस्त ने चुटकी बजाते बना दिया। इन लकीरों से भी अगर वैसा ही कोई पिरामिड बन जाए, जहाँ मैं इतिहास की किसी प्राणवन्त घटना का ममी पा सकूँ।···

गंगा की लहरों पर मेरी दृष्टि धूमिल होती जा रही है। इस धूमिलता में चन्द उभरती हुई आकृतियों को देख रहा हूँ।

एक मझोले क़द का नौजवान बग़ल में पुस्तकों का पोथा दबाये जा रहा है। मैं उसके शरीर को देख रहा हूँ। मेरी जिज्ञासा होती है कि मैं इसका चेहरा देखूँ। नज़रें उठाता हूँ, तो धूमिलता अँधेरे में बदल जाती है—ऐसा अँधेरा, जिसमें आदमी, पेड़-पौधे और मकानों की छाया मात्र दिखलाई पड़ती है। आकृति से वस्तु का बोध तो होता है, किन्तु परिचय नहीं हो पाता।

छायाकृति का नौजवान स्थिरतापूर्वक कदम उठा रहा है। सड़क सुनसान। एक मोड़ पर वह घूमता है और एक गेट पार कर छोटी-सी सड़क पर आ जाता है। यहाँ बहुत-सी आकृतियाँ हैं। वैसी ही काली, परिचयहीन आकृतियाँ। कुछ दूर आगे—

और मोड़ है। यहाँ एक दूसरी आकृति आती है। इसके शरीर और बालों की छाया से मालूम पड़ता है, कोई दुबली-पतली लड़की है।

दोनों आकृतियाँ निकट आती हैं। पल-भर रुकती हैं और एक-दूसरे का हाथ थाम लेती हैं। वे मुश्किल से दस कदम चले होंगे कि कोई तीसरा मज़बूत हाथ आकर लड़की का दूसरा हाथ पकड़ता है और प्रतिकूल दिशा की ओर खींचता है। लड़की खींची जाती है, तेज़, तेज़ और तेज़। कोई आवाज़ नहीं। कोई हल्ला नहीं। लड़की दौड़ी चली जाती है।

नौजवान खड़ा रह जाता है।

अपने इस संध्या-स्वप्न का विश्लेषण करता हूँ। लगता है कि मैंने शिवनाथ चौधरी और चित्रा बर्नवाल को देखा है। कविता की कापी, समर्पण की पंक्तियाँ क्या ऐसा ही संकेत नहीं करतीं?

संध्या के इस आकृति-दृश्य से मुझे लगता है कि मैंने चित्रा बर्नवाल को कॉलेज में देखा है। अपनी आँखों मैंने उस मधुर प्रसंग को देखा है, जिसकी परिणति उदास, करुण और चिन्त्य वातावरण में होती है।

मगर इससे पिरामिड का सिर्फ़ एक हिस्सा बनता है। मैं चाहता हूँ कि पूरा पिरामिड बने।

गंगा की लहरों पर अँधेरा छाया जा रहा है। कहीं-कहीं एक-आध लहर उछलकर चमक जाती है। इन लहरों में कोई ताल-मेल नहीं है। ये लहरें मुझे कुरेद जाती हैं। लगता है, समूचे शरीर में कुछ ऐसा भर गया है, जिसे नहीं होना चाहिए। मैं इसे

निकालकर बाहर कर देना चाहता हूँ। मगर यह सम्भव नहीं। यह तत्त्व ऐसा है, जिसे मैं महसूस करता हूँ, जिसकी कहीं खास जगह स्थिति नहीं कि निकाल बाहर करूँ। यह तत्त्व मेरे शरीर में आकाश बनकर छा गया है—ऐसा आकाश, जिसमें अणु के टूटने की शृंखला है और मुझे असहनीय कम्पन का सामना करना पड़ रहा है।

जितना ही सोचता हूँ, लगता है, अधिक उलझता जा रहा हूँ। शिवनाथ चौधरी, चित्रा बर्नवाल···यह तुक तो ठीक है, मगर वीरू पटेल ? यह नाम मैंने पहली बार बिन्नो फुआ से सुना था—वीरुआ···डरायवर।

धीरे-धीरे मुझे लगता है कि पिरामिड का शेष दीवार भी तैयार कर सकता हूँ। यह एक कठिन काम है। निर्मम मन से श्रम-साध्य अभियान का काम।···

शिवनाथ चौधरी और चित्रा बर्नवाल के बीच सम्भवतः शिवनाथ चौधरी की पत्नी का आगमन बाधा हो सकता है। जिस युग के शिवनाथ चौधरी हैं, शायद माँ-बाप के सामने खुलकर विवाह के सम्बन्ध में हाँ-ना नहीं कर सकता था। ऐसा भी हो सकता है कि चित्रा बर्नवाल की वजह से शिवनाथ चौधरी का व्याह तय हुआ हो। व्याह के बाद उनकी पत्नी ने भी जाना हो। पत्नी के आने के बाद भी चित्रा बर्नवाल की दास्तान चलती रही हो और तब···

तब ईश्वर मुझे क्षमा करे। मैं एक ऐसे पिरामिड का द्वार खोल रहा हूँ, जहाँ मेरे इतिहास का ममी है···

आने के बाद, माँ ने चित्रा बर्नवाल की दास्तान सुनी

वधू की लज्जा से, दुल्हन के निवेदन से उन्होंने इस दास्तान को समाप्त करना चाहा हो। अगर बात तब भी समाप्त नहीं हुई हो, तो स्वाभाविक है कि उनके मन में भीषण रोष हुआ होगा। माँ में बदला लेने की भीषण प्रवृत्ति है। अगर हर तरफ़ से हार-पछताकर उन्होंने 'जैसे को तैसा' का सहारा लिया हो!

कुछ-कुछ अँधेरा चारों ओर घिर आया है। मैं शायद बहुत देर तक बैठा रह गया हूँ। लेकिन लगता है कि मैं अभी-अभी किसी सिनेमा-हॉल से निकला हूँ। फ़िल्म समाप्त हो गया है। देखी घटनाओं को सोचते हुए मैं बाहर आ गया हूँ। सिनेमा हॉल की घुटन से निकलकर जैसे गंगा के कगार पर आ बैठा हूँ। ज़ोर से साँस खींचता हूँ, जैसे मेरे फेफड़े में बहुत-सी गन्दी हवा भरी है, जिसे निकालकर बाहर करना बहुत ज़रूरी है।

फिर मेरा मन धीरे-धीरे करुण हो जाता है। मैं महसूस करता हूँ कि कर्ण की तरह मैं भी इस नदी के किनारे अकेला फेंक दिया गया हूँ। वह मुझसे ज़्यादा भाग्यवान था, क्योंकि उसे जब फेंका गया था, तो वह संज्ञाहीन था। ज्ञान होने पर वह जिस किनारे फेंका गया था, वहाँ से सर्वथा दूर था। वह तटस्थ दृष्टि से अपने फेंके जाने का दृश्य देखता था। उसके लिए दूसरी सृष्टि सत्य थी। किन्तु मेरे साथ वैसी बात नहीं है। मैं नदी में फेंक दिया गया हूँ। मगर जहाँ फेंका गया हूँ, उसी किनारे से लगा हुआ हूँ। मेरे हाथों में किनारे की मिट्टी है और समूचा शरीर नदी की धारा में हिलोर ले रहा है। जिसे मैं 'स्व' का दायरा समझता हूँ, वह 'स्व' नहीं है। नदी का पानी कल-कल करता बहा जा रहा है, जिसके ऊपर अँधेरे की मोटी चादर झुक गई है।

किनारा अँधेरे में डूबा हुआ है। ऐसी स्थिति कब तक गवारा हो सकती है!

मैं गंगा-किनारे से उठ खड़ा होता हूँ।

घर आता हूँ। पूरा घर अपनी रफ्तार में है। वही पुरानी, चिरन्तन रुटीन। चिर-परिचित चेहरे। किसी के चेहरे पर कोई गाँठ नहीं, कोई तनाव नहीं। जिन्दगी का दरिया अपनी रफ़्तार में बहा जा रहा है।

माँ ने एक बार आँखें उठाकर मेरी ओर देखा, जैसे उनकी आँखों में मेरे लिए कुछ आश्चर्य था। किन्तु ऐसा कुछ ही क्षण रहा। उन्होंने मुझसे पूछा—इतनी देर तक कहाँ थे? कालेज खत्म होने पर घर आ जाना चाहिए या भूखे-प्यासे भटकना चाहिए···

माँ की आँखों का आश्चर्य देखकर मैं कुछ और सोच रहा था, मगर बातों से मेरा सारा सोचना बह गया। एक माँ की स्वाभाविक जिज्ञासा भी तो हो सकती है? क्या मेरे विचार पूर्वाग्रह से मुक्त हैं?···

माँ मेरे आगे से चली गई। मधु ने चाय दी। मधु के देखने पर लगा कि वह हद से ज्यादा दुबली हो गई है। आज जैसे उसकी लम्बाई भी कम हो गई है। आँखें भीतर को धँस गई हैं। बाल बहुत अधिक सूखे और रूखे हो गए हैं। वह तो ऐसी नहीं थी। कालेज जाने के पहले तो ऐसी नहीं थी। मैंने चाहा उससे कारण पूछूँ। फिर लगा कि शायद मेरी आन्तरिक और विपन्नता ही इस तरह लोगों के चेहरे पर [illegible] अगर ऐसी बात है, तो कारण जानने के बदले [illegible]

निष्कर्ष सही नहीं हो सकता है।

मेरी नज़र धुले हुए कपड़ों पर जाती है। मन में एक ललक उठती है—क्यों न आज रात मैं चुपचाप उठकर यहाँ से निकल चलूं और धीरू पटेल से मिल लूं।

तभी मेरे कमरे की भिड़काई किवाड़ हटती है और मधु आती है। उसका चेहरा देखते ही मैं अस्त-व्यस्त हो जाता हूँ। कहीं आदत के अनुसार वह डायरी लेने की जिद न करे? मैंने जल्दी-जल्दी पन्ना उलट दिया।

वह आकर दूसरी कुर्सी के निकट खड़ी हो गई।

—कोई गम्भीर बात सोच रहे हो क्या?

—हाँ।

—मुझे कुछ बातें करनी थीं?

—करो।

वह एक पल रुकी। बोली कुछ नहीं। आँचल के भीतर से एक लिफ़ाफ़ा निकाला और टेबुल पर रख दिया।

—इसे इत्मीनान से पढ़ लेना।

मधु सन्तुलित कदमों से धीरे-धीरे बाहर निकल जाती है। मैं लिफ़ाफे को देखता हूँ, सादा और बन्द लिफ़ाफ़ा। ऐसा लिफ़ाफ़ा वह दो बार और दे चुकी है, पढ़ाई के सम्बन्ध में। टिफ़िन खाने के लिए एक रुपया रोज़ चाहिए। माँ-बाप या मुझे सीधे कैसे कहती? कालेज ट्रिप के साथ दक्षिण भारत जाना है। अभिभावक की आज्ञा और खर्च चाहिए। इस तीसरी बार के लिफ़ाफे को मैं उसी तरह समझता हूँ।

लिफ़ाफे की उपस्थिति जैसे भूल जाता हूँ। मैं इधर-उधर

नज़र दौड़ाता हूँ। शेल्फ़ से लगा हुआ टिफिन ले जाने वा
थैला है। थैले को निकालकर झाड़ता हूँ। दो पाजामा, दो कु
टावेल उसमें रखता हूँ। मधु का लिफ़ाफ़ा भी उसी के भीतर रख
हूँ। निश्चिन्त होकर पढ़ूँगा। लौटकर आने पर व्यवस्था होगी

अलमारी के ऊपरी दराज़ में टेबुल-घड़ी है। बाहर नि
लता हूँ। साढ़े दस बज रहे हैं। घड़ी को टेबुल पर रखता
फिर अलमारी के दूसरे दराज़ के कोने से मधु के हाथ का बु
हुआ मनीबैग निकालता हूँ। टेबुल पर उलट देता हूँ। अब त
की जमा पूँजी तेईस रुपये। काफ़ी हैं।

फिर एक पुर्ज़ा लिखता हूँ—मैं एक ज़रूरी काम से बाह
जा रहा हूँ। तीन-चार दिन लगेंगे। मेरे लिए कोई चिन्ता न क
जाए।

पुर्ज़े को टेबुल पर रखता हूँ। किस चीज़ से दबाया जाए
दूसरी ओर दीवार में बड़ी-सी ताख है। इस ताख में एक ग्लोब
रखा हुआ है। हाथ बढ़ाकर ग्लोब उठाता हूँ और पुर्ज़े को दबा
देता हूँ। पुर्ज़ा दबा रहे और ऐसी चीज़ से कि नजर भी पड़ जाए।

दो बजे बनारस एक्सप्रेस है। डेढ़ बजे तक मुझे रहना है
तब तक रोशनी नहीं जलाई जा सकती, अगर कोई इधर न
जाए। यह तैयारी देख ले, तो सारा मामला बिगड़
किवाड़ भीतर से बन्द करता हूँ, और लाइट ऑफ़ कर
बैठ जाता हूँ। बेंच पर लेटने से नींद
मानसिक स्थिति से मैं गुज़र रहा हूँ कि नींद
तरह लुभावनी लगती है। फिर भी मैं नींद

अँधेरे कमरे में अकेले बैठकर नींद

एकान्तभोगी बनना बड़ा ही कठिन काम है। मन में कोई एक बात उठती है और कल्पना पर उस बात के बहुत-से परिपार्श्व उभर आते हैं। अन्त में चेतना शून्य में भटक जाती है और नींद फिर से कन्धे छूना चाहती है। लक्ष्यहीन मन के लिए ऐसी स्थिति नशे के समान है। मेरे सामने एक लक्ष्य है। मैं झटके के साथ उठ खड़ा होता हूँ।

गली की तरफ़ खुलने वाली खिड़की से लगा हुआ लाइटपोल है। बल्ब मैं नहीं देख पा रहा हूँ, मगर उसकी रोशनी गली में देख रहा हूँ। रोशनी मेरी आँखों में कड़वे अंजन की तरह लगती है। नींद का बोझ हल्का होता है। आज, जब मैं नींद नहीं चाहता हूँ, तो नींद के विषय में सोच रहा हूँ और लगता है कि सावधानी नहीं बरतूंगा तो नींद आ जाएगी।

इस कमरे में जयन्त के साथ मैंने दो-दो बजे रात तक, बग़ैर पलक झपकाये, बातें की हैं। इम्तहान के बाद जब वह बरामदे के दूसरे छोर पर बने, इसके विपरीत कमरे में बीमार होकर आया था और अच्छा होने पर कुछ महीने रोक लिया गया था, तो अक्सर हम लोग एक बजे, दो बजे रात तक बातें करते थे। उस समय नींद हम लोगों के डर से भागती रहती थी।

आज अगर जयन्त होता !···तो शायद मेरे लिए अच्छा नहीं होता। मैं उससे क्या बहाना बनाता अपनी यात्रा का !

मैं खिड़की से हटकर फिर कुर्सी पर आकर बैठ जाता हूँ।

अँधेरे में खूब भटकता है मन। निर्बंध, मुक्त। मेरा मन दूर-दूर तक चक्कर लगा आता है।

ग्यारह···बारह···एक···।

मुझे अब चल देना चाहिए। टिकट कटाने में भी समय लगेगा। अगर रिक्शा नहीं मिले तो काफ़ी दूर पैदल जाना पड़ेगा। दो मिनट के लिए रोशनी करता हूँ। थैला उठाकर कन्धे से लटकाता हूँ। रोशनी गुल करता हूँ और आहिस्ता-आहिस्ता बाहर निकल जाता हूँ।

मेरे बरामदे के सामने लाइट-पोल है। बरामदे में एकान्त और अलसाई रोशनी है। पैर की आहट बचाता हुआ मैं नीचे उतर जाता हूँ।

जैसे यह गली मेरे लिए बिलकुल नई है। मैं इससे होकर कभी बाहर नहीं निकला। ठण्डा एकान्त।···

मैं गली से बाहर आ जाता हूँ।

बारह

भागलपुर।

जैसे शहर की आत्मा बहुत पुरानी है और नयापन चढ़ रहा है। बड़ा-सा नया स्टेशन और स्टेशन से निकलने पर गोल चौराहा और फिर शहर प्रारम्भ। कुछ बिलकुल नये मॉडल के मकान और कुछ बहुत ही पुराने ढर्रे के नक़ाशीदार खंभों वाले।

एक होटल में ठहरा और खाना खाने के बाद थोड़ा घूमने की मौज में निकलता हूँ। जैसे शहर के दोनों ओर कुछ ऐसी चीजें अवश्य हैं, जिन्हें देखना हो तो

अपने अन्तर की अन्ध-गुहा में पैठकर अपने को देखने का इच्छुक है, वह भला दुनिया का और क्या देखे !

अचानक मेरे मन में एक ख़याल आया। पटना से भागकर भागलपुर तो पहुँच गया, किन्तु यह तो सोचा ही नहीं कि अगर धीरू पटेल मिल जाए, तो मैं उससे कहूँगा क्या ?

यह विचार मेरे मन में आते ही दिमाग झन्ना गया। अगर मैं अपना परिचय देता हूँ, तो सारा मामला गड़वड़ हो जाएगा ? भला कौन ऐसा आदमी होगा, जो अपने जीवन का एक ऐसा अध्याय, जो महत्त्वपूर्ण और लज्जास्पद हो, सम्वन्धित व्यक्ति के सामने खोलेगा ! और अगर, धीरू उतना साहसी और दुर्दान्त हो भी, तो मैं किस मुँह से उसे इन सारी वातों के विषय में पूछूँगा ! मुझे लगा कि मेरा रिक्शा पानी की लहरों पर भँसता हुआ काठ का टुकड़ा है, जिसके ज़रिये मैं अज्ञात दिशा की ओर वढ़ता जा रहा हूँ।

मेरी ऐसी स्थिति, जव मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहता है, वहुत देर रहती है, किन्तु रिक्शावाले ने मेरा ध्यान भंग किया।

—मंसूरगंज आ गए वावू !

मैं जैसे सोते से जगा। मंसूरगंज ! रिक्शे को रुकवाया। किराया देकर विदा किया।

जिस जगह मैंने रिक्शा रुकवाया, वहाँ आसपास पुराने और काईयों-भरे मकान थे। कुछ कदम आगे वढ़ने पर एक चाय की दूकान मिली। मैं चुपचाप दूकान में घुस गया। आस-पास के लोग अंगिका भाषा में छिका-छिकी वोल रहे थे, जो मुझ मगही-भाषी के लिए कर्णस्वाद की चीज़ थी। अगर मैं नार्मल हालत में होता,

तो निश्चित रूप से कुछ शब्द सीख लेता और बाद में इस्तेमाल करता। मगर इस समय मेरा मन इन सारी बातों की ओर गया नहीं।

धीरू पटेल से आखिर किस रूप में मिला जाए? तभी मेरे दिमाग में एक विचार बिजली की तरह कौंध जाता है। क्यों न समाज-शास्त्र का रिसर्च स्कॉलर बना जाए! विश्वविद्यालय में पढ़ता हूँ। यह नाटक आसानी से कर लूंगा। और समाज-शास्त्रीय अध्ययन के नाम पर काफ़ी-कुछ पूछा भी जा सकता है। मुझे लगा कि मैंने मैदान मार लिया। अच्छा प्रारम्भ, आधी सफलता है।

चाय का पैसा देकर मैं होटल से बाहर निकला। खुली हवा में साँस ली। मन थोड़ा ताजा हुआ। जेब से डायरी निकाली। पता पढ़ा।

मंसूरगंज चौकी।

इस स्थान का पता लगाते देर नहीं लगी। एक बहुत ही पुराना मकान। आगे ऊबड़-खाबड़ जमीन। कुछ दूर आगे तार के पुराने घेरे का भग्नावशेष। मुझे इस स्थान से पूरब जाना है।

मगर सच्ची बात यह है कि मुझे यहाँ आने के बाद दिशा का ज्ञान नहीं रहा है। नये स्थान में ऐसा जब कभी हो जाता है। सूरज देखकर अगर अनुमान लगाऊँ तो चौकी से पूरब किसी स्कूल का खाली मैदान है। दूसरी तरफ किसी मकान का पिछवाड़ा है। मेरे खयाल में यह दक्षिण होना चाहिए। मगर मैं अपने दिग्भ्रम के कारण निराश नहीं होता हूँ। मुझे तो इन्हीं भ्रमों के बीच भटकना है और सत्य को पाना है।

मैं बाजार की ओर बढ़ता हूँ। एक पान की दुकान

होता हूँ। पान नहीं खाता हूँ, न खाना पसन्द करता हूँ। मगर इस लालच में पान खाने जाता हूँ कि दूकानदार मुझे अपना ग्राहक समझकर मेरे प्रश्नों का सहृदयतापूर्वक जवाब देगा।

पान बनाने का ऑर्डर दिया। सहसा मेरी नज़र पास-पड़ोस के मकानों की ओर गई। प्रायः सारे मकान एक-जैसे और कतार में थे और दो-तीन महल के थे। नीचे दूकान और ऊपर के खानों में रेलिंग लगा हुआ बरामदा और उस पर सूखते एक-आध कपड़े। मुझे लगा कि मैं पटना सिटी आ गया हूँ। वहाँ भी इसी तरह के मकान हैं। मन में प्रश्न उठा कि क्या यह भी पटना के उसी बाज़ार की तरह भागलपुर का ऐतिहासिक वेश्या-बाज़ार है। मगर यह प्रश्न ख़ुद इतना भयावना मालूम पड़ा कि मेरे संस्कार ने इस सम्बन्ध में कुछ भी पूछने से मना किया।

पान खा लेने और पैसे दे लेने के बाद मैंने पानवाले से लालखाँ का पता पूछा।

—ओ, लाल खाँ! देखिए, वो बड़ा-सा सफेद मकान देख रहे हैं। वही है घर!

मैं सफेद मकान के निकट पहुँचा। नीचे कपड़े की दूकान थी। मैं बड़ल्ले के साथ दूकान पर चढ़ गया। लालखाँ के विषय में पूछा। लालखाँ ऊपर रहते थे। बूढ़े थे। बेटे दूकान चलाते थे। बड़ा बेटा दूकान पर था, पूछा—क्या काम है?

—काम! उनसे कोई काम नहीं है। मैं उनसे एक आदमी के विषय में पूछना चाहता हूँ।

—किसके विषय में?

—धीरू पटेल के विषय में।

—धीरू पटेल ? मगर आप कहाँ से आ रहे हैं ? उन्हीं से क्यों पूछने आये हैं ?

—मैं मुजफ्फरपुर में पढ़ता हूँ। एम० ए० हूँ। समाज-शास्त्र में थीसिस लिखनी है। मैंने शहर भागलपुर के मंसूरगंज मुहल्ले को चुना है। इसमें भी खासकर प्रान्त के बाहर से आकर रहने वालों की सामाजिक स्थिति का ब्योरा तैयार करना चाहता हूँ। मैंने इस मुहल्ले की सेंसस रिपोर्ट देखी है—कई वर्षों की। उसी में एक जगह लालखाँ के परिवार के साथ धीरू पटेल का नाम देखा। लाजिमी है कि ऐसी बेतुकी हालत पर आश्चर्य हो। इसलिए यहाँ आया।

लालखाँ के लड़के ने, पता नहीं, मेरी बातों को कहाँ तक समझा ! क्योंकि मैंने खयाल किया कि जब मैं बोल रहा था, तो वह शून्य दृष्टि से सड़क की तरफ़ देख रहा था और कपड़े के बण्डल की डोरी को चुटकियों से आहिस्ता-आहिस्ता रगड़ रहा था। मेरा बोलना खत्म हो गया।

उसने कहा—आप अब्बा जान से मिलना चाहते हैं या धीरू पटेल से ?

—धीरू पटेल से।

—फिर आप इसी सड़क से दायीं तरफ़ सीधे चले जाइए। लगभग पांच सौ गज जाने पर एक बरगद का पेड़ मिलेगा। उस पेड़ के बाद, बिलकुल निकट ही धीरू पटेल की चाय की दूकान है।

मैं लालखाँ की दूकान से निकलकर धीरू पटेल की ओर [illegible] पड़ा। किन्तु मुझे लगा कि चलने का मेरा साहस समाप्त

जा रहा है। जिस बात के लिए इतनी दूर से आ रहा हूँ, वही अब सामने आने वाली है। मुझे लगा कि मैं दुनिया का सबसे बड़ा इम्तहान दे चुका हूँ और अब कुछ ही मिनटों में रिज़ल्ट निकलने वाला है।

कैसा होगा धीरू पटेल ? कैसा व्यवहार करेगा ? ऐसा भी तो हो सकता है कि वह बात नहीं करे और कुछ भी ऐसी बात नहीं बताये, जिसे जानने मैं यहाँ आया हूँ।...

आख़िर बरगद का पेड़ आया। पार किया। धीरू पटेल की दूकान आई।

यह दूकान बिलकुल फुटपाथी तो नहीं, किन्तु उसी की तरह है। खपरैल का एक बड़ा-सा कमरा है। एक ओर तीन-चार बेंचें रखी हुई हैं, जिन पर दो आदमी, जो मज़दूर मालूम पड़ते हैं, चाय पी रहे हैं। एक आदमी, जो सफेद कपड़ों में मध्यवर्गीय मालूम होता है, दूसरी ओर की बेंच पर बैठा है। एक दुबला-पतला काले रंग का व्यक्ति चाय बना रहा है। इसके सिर पर बड़े-बड़े बाल हैं। दाढ़ी बढ़ी हुई है। पाजामा और कमीज़ पहने है। मेरी आँखें उस पर अड़ जाती हैं। यही है धीरू पटेल क्या ? मगर मैं अपने को संयत करता हूँ। इतना फिसलन-भरा मन रखने से तो कोई काम होने से रहा।

मैं धीरे-धीरे दूकान में घुसकर एक ओर बैठ रहता हूँ। जिस तरफ़ चाय बनाने का कमरा है, उसी तरफ देवदार के बक्सोंवाली तख्तियों को ठोककर एक कमरा-जैसा बनाया गया है। इसमें कोई किवाड़ नहीं है। भीतर कुछ कपड़े लटक रहे हैं।

दढ़ियल व्यक्ति चाय बनाकर लाता है और सफेद कपड़ों

वाले बाबू को देता है। एक लम्बे काँच के गिलास में लगभग छः छटाँक चाय। चाय का गिलास दे लेने के बाद मेरी ओर देखता है। मैं आशय समझ जाता हूँ।

—एक चाय।

—सादा ?

—समझा नहीं ?

—ऑर्डिनरी या मलाई वाली ?

—मलाई वाली।

वह तेज़ी से चाय बनाने चला जाता है। उसकी दाढ़ी तथा सिर के एक-आध बाल पक गए हैं, मगर शरीर की फुर्ती जैसी-की-तैसी बनी हुई है। उसकी आवाज़ अभी तक मेरे मन में गूँज रही है। काश मेरे पास एक टेप रेकार्डर होता ! मैं इसकी आवाज़ को ले जाता और इत्मीनान से अपनी आवाज़ के साथ मिलाकर स्वर-ग्रन्थियों के कम्पन का हिसाब मिलाता।

जिस समय मुझे उसने चाय दी, उस समय तक दोनों मज़दूर पैसे देकर बाहर चले गए थे। मैंने आहिस्ता-से गिलास को उठाया और एक ओर बेंच पर रख दिया। किसी तरह यह सफेद कपड़ों वाला भी चला जाए तो मैं अपनी बातें शुरू करूँ।

—एक केक दीजिए।

उसने एक प्लेट में केक दिया। मैं आहिस्ता-आहिस्ता केक और चाय खाने लगा। लगभग आधी चाय पी होगी कि सफेद कपड़ों वाला भी चला गया। मैं इसी अवसर की ताक में था। इस खाली समय का उपयोग नहीं किया, तो सम्भव है और कोई ग्राहक आ जाए।

मैंने उसे बुलाया। वह सामने आकर यूं खड़ा हुआ जैसे मैं कोई नया ऑर्डर दूंगा।

—आपका नाम धीरू पटेल है न?

—हाँ। क्या बात है?

—मैं आपका थोड़ा समय लेना चाहता हूँ।

—क्यों, क्या बात है?

—मैं मुजफ्फरपुर कालेज में एम० ए० में पढ़ता हूँ। समाज-शास्त्र के लिए एक किताब लिख रहा हूँ। उस किताब में ऐसे लोगों की ज़िन्दगी के बारे में जानकारी देना चाहता हूँ, जो दूसरे प्रान्त से आकर यहाँ बसे हैं। इस सिलसिले में मैंने भागलपुर को चुना है। आप दूसरे प्रान्त के रहने वाले हैं न?

—हाँ। मैं हूँ तो महाराष्ट्र का रहनेवाला, मगर अब तो यहीं का कहिए। मगर यह क्या सम्भव हो सकता है कि समूचे शहर में दूसरे प्रान्त से आने वाले लोगों की जानकारी आप प्राप्त कर सकें? हजार-दो हजार तो सिर्फ बंगाली ही होंगे।

—एक-एक से मिलना सम्भव भी नहीं और मैं चाहता भी नहीं हूँ। हर तरफ़ के दो-चार आदमियों से मिलूंगा, यही मेरे लिए काफ़ी हो जाएगा।

—आप क्या जानकारी लेना चाहते हैं?

—आप निश्चिन्त होकर बैठें तो कुछ पूछूं। कम-से-कम एक घण्टा समय दीजिए।

—लेकिन अभी तो दूकान का समय है। ग्राहक आ जाने पर तो मुझे उठना ही होगा।

—फिर आप ऐसा समय बतलाइए, जब आप निश्चिन्त रह

सकें।

—आप बारह के बाद आ सकते हैं? बारह से तीन बजे तक मैं दूकान बन्द रखता हूँ।

—आऊँगा।

—अगर दूकान में फाटक लगा रहे, तो आप फाटक पर आवाज कर मुझे बुला लीजिएगा।

मैं उठकर बाहर आता हूँ, रिक्शा लेता हूँ और सीधे होटल आता हूँ। कमरे में जाकर लेट जाता हूँ। धीरू पटेल के रूखड़े-सीधे बाल, छोटी-छोटी आँखें, जबड़ा-उभरा चेहरा। मेरी आँखों में उसका अंग-प्रत्यंग निकट के क्लोज़-अप की तसवीरों में उगता जाता है और लगता है कि मैं खुद अपना चेहरा और अपने अंगों को भूल गया हूँ। मेरे मन में होता है कि एक दर्पण होता तो खुद अपना चेहरा देखता।

रात के जागरण और यात्रा के कारण मैं बहुत थक गया हूँ, लेकिन आँखों में नींद नहीं है। मैं हमेशा धीरू पटेल के विषय में ही सोचता जा रहा हूँ।

मेरे इन्तज़ार की घड़ी कटी और बारह बजे। मैं होटल से निकला। धीरू पटेल की दूकान पर पहुँचा, तो टीन का दरवाजा लगा हुआ था। ठकठकाया। पल-भर बाद दरवाजा खुला।

धीरू पटेल खाना खा रहा था। जूठे हाथ बाहर आया था। मैंने कष्ट के लिए क्षमा माँगी। बेंच पर बैठ रहा। वह जल्दी-जल्दी खाना खाकर उठा और हाथ पोंछते हुए मेरे निकट आकर, दूसरी बेंच खींचकर, बैठ गया—अब पूछिए, जो पूछना हो।

मैं बच-बचकर उसके परिचय-सम्बन्धी प्रश्न पू

लगभग पन्द्रह मिनट की पूछताछ के बाद जो तथ्य मेरे सामने आए, उनके आधार पर मैं इतना ही जान पाया कि वह पूना के निकट के किसी गाँव का रहनेवाला था। माँ-बाप बचपन में मर गए। पूना में एक सेठ के घर नौकरी करने लगा—बच्चे खिलाने का काम। वहीं जवान हुआ। सेठजी पर लक्ष्मी की कृपा दिनों-दिन अधिक होती गई। एक ड्राइवर से झगड़कर सेठजी ने अपने पुराने नौकर धीरू को ड्राइवरी सिखलाई। फिर धीरू उनकी गाड़ी का ड्राइवर हो गया। कुछ वर्षों में सेठजी मर गए। नये मालिक का मिज़ाज अलग था। धीरू को गाने-बजाने का बहुत शौक था। अपने कमरे में हारमोनियम रखता था। वह कुछ गा रहा था। नये मालिक कहीं बाहर जाने को थे। तैयार होकर निकले, मगर ड्राइवर नहीं। एक-दो हाँक लगाई। धीरू अपने संगीत में मगन था, सुना नहीं। फिर किसी नौकर को भेजकर बुलवाने के बदले मालिक खुद धीरू के कमरे तक आ गए। हार-मोनियम बजाते और गाते देखकर जल-भुन गए और उसी समय नौकरी से अलग कर दिया। पूना के सेठ की नौकरी से अलग होने के बाद धीरू लखनऊ आया। एक अफ़सर का ड्राइवर बना। मगर वर्ष पूरा होने के पहले अफसर महोदय किसी ट्रेन-दुर्घटना में मर गए। धीरू का मन लखनऊ से उचट गया। वह पटना आ गया।

—पटना आप कब आये ?

—ओ, दादा ! पचीस-छब्बीस वर्ष हुए होंगे। वहाँ एक प्राइवेट कम्पनी के ट्रक पर नौकरी मिल गई। एक सज्जन ने रहने को जगह दे दी। मौज से रहने लगा।

—पटना में कहाँ रहते थे ?

—आप पटना गए हैं?

—हाँ, बराबर आता-जाता हूँ।

—एक मुहल्ला है कदमकुआँ···

—अच्छा, कदमकुआँ ! मैं जानता हूँ। वहाँ किस जगह रहते थे ?

—सिन्धु साह की गली में।

—लीजिए, सिन्धु साह की गली ! यह गली तो मेरी खूब परिचित है। इस गली में मेरे एक मामा रहते हैं।

—कौन हैं ? क्या नाम है ?

—त्रिवेणी पाण्डेय !

—कब से रहते हैं ?

—बहुत दिनों से।

—मगर मैं जब रहता था, तब नहीं थे। किस जगह घर है ?

—आप बतलाइए न कि किस जगह रहते थे, फिर उसी अन्दाज से कहूँगा।

—मैं शिवनाथ चौधरी के मकान में रहता था।

—शिवनाथ चौधरी को मैं जानता हूँ। जरा तोंदियल जैसे हैं।

—उम्र तोंदियल हुआ होगा, पहले नहीं था।

—हो सकता है। आप पटना में कितने दिन रहे हैं ?

—ठीक-ठीक याद नहीं। पाँच-छः साल रहा हूँगा।

—फिर पटना क्यों छोड़ा ?

—बस यूं ही। कुछ खटर-पटर हो गया।

—ट्रक कम्पनीवालों से ?

—नहीं।

—तब किससे ? शिवनाथ चौधरी से हुआ होगा ?

—धुत ! शिवनाथ चौधरी से क्या होगा, वह तो बेचारा गऊ है !

—फिर उनकी पत्नी से ? एक बार मेरी भाभी बोल रही थी कि वह बड़ी झगड़ालू है।

—झगड़ालू !···हा···हा···हा···

आधी हँसी हँसने के बाद धीरू पटेल अचानक चुप हो गया। मैंने फिर पूछा, मगर वह टाल गया।

—छोड़ो उन बातों को।

वह कुछ देर बिलकुल चुप हो गया, जैसे किसी खामोश घाटी में अकेला खड़ा हो। फिर मेरी ओर देखकर बोला—आप तो एक-दो दिन रहिएगा ?

—हाँ।

—फिर आप कल इसी समय आइए। भागलपुर की कहानी सुनाऊँगा। अब मैं सौदा खरीदने बाज़ार जाऊँगा। चीनी नहीं है।

मैं धीरे-धीरे उठ गया। बाहर आया। धीरू पटेल जब मुझे विदा कर रहा था, तो मैंने यह महसूस किया कि वह बहुत दुबला हो गया है और बहुत-बहुत अकेला और उदास है।

होटल पहुँचते-पहुँचते मैं भी लगभग उदास हो गया। उदासी शायद संक्रामक है। होटल पहुँचकर मैंने चाहा कि डायरी पर

थीरू के रंग-रूप, आकृति-प्रवृत्ति का संस्मरण लिखूं। कलम में स्याही नहीं थी। बैग में स्याही की छोटी शीशी मैंने रखी थी। बैग में हाथ डालकर शीशी खोजता हूँ। शीशी मिलती नहीं। बिस्तर पर लाकर बैग को उलट देता हूँ। शीशी नहीं है। शायद रखने की सोची, मगर रखी नहीं। तभी मेरी नज़र मधु के लिफ़ाफ़े पर पड़ती है। लो, यह साथ लगा यहाँ तक आ गया। पढ़ भी लिया जाए, पगली ने क्या लिखा है। लिफ़ाफ़ा खोलता हूँ :

भैया,

तुम आजकल में मुझसे एकान्त में थोड़ी देर बातें करो, वरना मुझे जीवित नहीं पाओगे। मेरे सामने जीवन-मरण की समस्या आ गई और तुम हो कि अपने में डूबे और अलग-अलग रहते हो। हर संकट में तुम मददगार रहे हो।

—मधु

मेरा हाथ काँप जाता है। सिर झन्ना जाता है। मशीन की तरह मैं सारी चीज़ों को थैले में भरता हूँ। मैनेजर के पास जाता हूँ। बिल अदा करता हूँ। मैं घड़ी पर एक नज़र डालता हूँ—पौने दो।

होटल से निकलता हूँ। स्टेशन की तरफ़ लगभग दौड़ पड़ता हूँ। स्टेशन की भीड़ आज मुझे भयावह नहीं लगती है। टिकट-काउण्टर की धक्का-मुक्की से मैं घबराता नहीं हूँ। मधु को मेरी ज़रूरत है। मुझे जल्दी जाना चाहिए।

आज पहली बार मेरे दिमाग़ से मेरी सारी समस्याएँ अचानक अलग हट गई हैं। मधु की आँसूभरी आँखें और हिलते

होंठ बार-बार मेरी स्मृति में उभरते हैं।

मुझे जल्दी जाना चाहिये, जल्दी। मधु को मेरी ज़रूरत है।

मेरा चिरन्तन मानव जाग उठता है। मैं दूसरे को अँधेरे में रोशनी दे सकता हूँ, गिरते हुए को सहारा दे सकता हूँ—मैं, एक अदना इकाई सार्थक हूँ। मैं जिस सत्य को खोज रहा हूँ, मधु को उसकी चिन्ता नहीं है। मधु नहीं जानती कि मैं कहाँ और क्यों भटक रहा हूँ। वह नहीं जानती कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ।

वह जानती है कि मैं हूँ।

यह भी एक सत्य है कि मैं हूँ—रूढ़, अक्षय और आदि-सत्य।

तेरह

अपने बरामदे पर लगभग साढ़े दस बजे रात में पैर रखता हूँ। घर के लोग सो रहे हैं।

मैं जंजीर बजाता हूँ। फुआ उठती हैं—सुकुमार, तुम? जुलुम करते हो तुम भी! कहाँ अचानक गुम हो गए थे? बाप रे! पूरा घर परेशान हो गया। थाना-पुलिस सब हो गया।

मैं उन्हें चुप रहने को कहता हूँ। भोर में सब ठीक हो जाएगा। फिर एक गिलास पानी माँगता हूँ। कह देता हूँ कि रास्ते में खाना खा लिया। चुपचाप पानी दे दो और बाहर वाला मेरा कमरा खोल दो कि मैं चुपचाप सो रहूँ। फुआ वैसा ही करती हैं।

मैं पानी पीकर अपने कमरे में आता हूँ। रोशनी जलता हूँ। सारी चीजें ज्यों-की-त्यों हैं। मेरा बिस्तरा वैसा ही है, सिर्फ चुनी हुई चादर नई कर दी गई। सिरहाने टेबुल पर सजा कर तरह रखा हुआ है। मैं बैग को टेबुल पर रखता हूँ और बिस्तर पर आना ही चाहता हूँ कि मधु आ जाती है—मैं, तुम ! ओह ! मैंने आहट से ही जान लिया था।

कमरे में कोका के फूल की खुशबू भर गई। मैंने इधर-उधर पास देखा। विभ्रम था। नहीं, विभ्रम नहीं था, कमरे में मधु थी। पीले पराग के मधु गन्धी फूलों की प्रतिमा-सी एक नारी। एक मधु।

मैं चौकी पर बैठ जाता हूँ। वह दूसरे दरवाजे को बन्द करती है—बातें करनी हैं, तुम जाओ ! तुम कहाँ गई थी, मैं मधु को बराबर भिड़का दिया। फिर एक कुर्सी खींचकर चौकी के सिरहाने बैठी—अब बतलाओ कि मेरा चित्रकार कैसे है तुम मधु से क्या हो गए ? मुझे तो अपनी जिन्दगी में कुछ भी जिन्दा नहीं गई।

मधु चुप हो गई। फिर धीरे-धीरे उदास होने लगी। उसकी आँखों में आँसू भर आए और वह फफक-फफककर रोने लगी। मैंने सान्त्वना से उसके सिर पर हाथ रखा। वह मेरी जाँघ पर सिर रखकर सिसकियों में रोने लगी। काफ़ी समझाने और दिलासा देने पर सिर उठाया।

—आख़िर बात क्या है ? कुछ कहोगी भी या···

—मैंने एक बहुत बड़ी ग़लती की है···मगर···

—पहले सुनूं भी तो कि कौन-सी ग़लती की ?

—तुम मुझसे घृणा करने लगोगे···

—धुत···पगली ! तुमसे घृणा ! उस दिन मैं जीवित बचूंगा क्या ? बोलो, क्या बात है ?

—वह जयन्त था न···

—हाँ···

—उस···

—क्या, बोलो न ? मेरे सामने ऐसे बातें नहीं करो। साफ़-साफ़ कहो।

—मैं उससे प्यार करती थी।

—और कुछ ?

—मैं उसके होनेवाले बच्चे की माँ बन गई हूँ और वह अब पटना नहीं आयेगा। वह बेकारी से तंग आकर बम्बई चला गया। उसे इस बात की जानकारी नहीं है और उसने लिखा है कि दो साल से पहले बम्बई से नहीं लौटेगा। बम्बई का कोई पता नहीं है।

—फिर ?

—पत्र पढ़कर बौखला गई और तुमसे सलाह करनी चाही, मगर तुम भाग गये। फिर मैंने सारी बातें माँ से कहीं। माँ ने पिताजी से कहीं। घर में मौत का सन्नाटा छा गया है। पिताजी आज सवेरे ही घर से निकले हैं, लड़का खोजने। पन्द्रह दिन के भीतर मेरी शादी की जाएगी।

मैं चुप हो गया। मधु को देखने लगा। मुझे चुप देखकर वह फूट पड़ी। मेरे पैरों से लिपट गई—भैया! मैं तुमसे सिर्फ़ एक भीख माँगती हूँ। मेरी शादी, जिससे मन आए, कल करा दो, या आजीवन कुआँरी रहने को कहो, मैं झेल लूँगी, मगर अपने प्यार के इस पहले फूल को मैं नष्ट नहीं होने दूँगी। इसके पहले मैं खुद आत्म-हत्या कर लूँगी या घर से भाग जाऊँगी।

घर में मेरा क्या अधिकार है, यह मधु जानती है। वैचारिक उदारता से सामाजिक अधिकार नहीं मिलते। फिर भी वह मेरे पैरों पर सिर रखकर रो रही है। आखिर वह रोये तो कहाँ! मैं उसके सिर पर हाथ फेरता हूँ। मेरा मुँह बन्द है। शिव की तरह वरदान देना चाहता हूँ, मगर अपनी बौनी मूर्ति देखकर चुप रह जाता हूँ।

बहुत देर बाद मधु धीरे-धीरे सिर उठाती है। [illegible] की मूर्ति को देखती है और रोती हुई चली जाती है।

मधु चली जाती है और मैं बिस्तर पर [illegible] और जयन्त, प्यार और फूल! मगर [illegible] फूल का? जयन्त या पिताजी का [illegible] डॉक्टर का कोई नुस्खा···डॉक्टर [illegible] 'क'···

बहुत-बहुत घटनाएँ, बहुत-बहुत विचार, अगणित समस्याएँ और अकेला सुकुमार···संघर्षों के बीच पराजित होता हूँ और नींद अपनी गोद में ले लेती है।

सवेरे जब आँखें खुलती हैं, तो लगता है मेरी गर्दन की नसें काठ की हो गई हैं। मैं सीधे सामने की ओर देखता हूँ। फिर लगता है कि मेरी गर्दन साठ अंश का कोण बनाती हुई ऊपर उठकर सामने की ओर झुक गई है। अब मैं अपने पैरों को देख सकता हूँ।

मगर यह क्या हुआ? मेरे पैर सिकुड़ने लगे, घुटना, जाँघ, छाती, गर्दन, सिर···सभी तो सिकुड़ने लगे। मैं जैसे अपने से अलग हटकर यह तमाशा देख रहा हूँ। मेरा शरीर छोटा होने लगा। स्याही की छोटी बूंद से भी छोटा मेरा शरीर हो गया। बिस्तर की सफ़ेद चादर पर मेरा शरीर कुछ वैसा ही लगता है, जैसी तसवीर अमीबा की दिखलाई पड़ सकती है। फिर यह हल्का शरीर बिस्तर से अपने-आप ऊपर उठता है और टेबुल की ओर बढ़ता है। टेबुल पर ग्लोब है। ग्लोब से जाकर चिपक जाता है।

ग्लोब पर चारों ओर पानी भरा है—गहरा नीला, शीतल और तरंगों-भरा। ग्लोब चक्कर काट रहा है और चक्कर काटते ग्लोब के तरंगों-भरे पानी में एक अमीबा भँसता जा रहा है।

विस्तृत सागर और एक अमीबा। सृष्टि के आदिपुरुष-सा एकाकी, सुकुमार।

• •